

दो शब्द



‘चारित्रविभूषण’ उग्रतपस्वी परम पूज्य १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज जहां पर पधारते हैं वहीं पर कोई न कोई शुभ काम हुये बिना नहीं रहता । महाराज श्री को मुख्य रूप से लगन ही दो बातों की रहती है (१) जगह २ भाषी पीढी के सस्कारो को उत्तम बनाने के लिये पाठशाला खुलवाना तथा ग्रथों को सरल भाव सहित प्रकाशित करवाना । फलस्वरूप १ कुचामन सिटी में शिशुवर्ग से पंचम कक्षा तक धार्मिक शिक्षण के साथ २ राजमान्यता प्राप्त कर नागौर जिले में एक आदर्श विद्यालय की स्थापना हुई जिसमें पैंसठ हजार रुपया ध्रौव्यफंड तथा दो सौ रुपया मासिक की आय है । (२) मारोठ मे धार्मिक विद्यालय कई वर्षों से बंद पडा था वहां का ध्रुव फण्ड करीब पचीस हजार होकर पाठशाला वर्तमान में चालू है । (३) सुजानगढ में करीब तीस हजार का ध्रौव्यफंड होकर धार्मिक शिक्षण प्रारंभ हुआ (४) लाडनू कन्या पाठशाला चालू हुई और उसमें धार्मिक शिक्षण की व्यवस्था हुई और भी जगह २ धार्मिक शिक्षण हेतु आप पाठशाला के लिये प्रेरणा करते ही रहते हैं । आज मे दो महिने पहले भी नावां कुचामन रोड मे कई दिन से आर्थिक परिस्थिति के कारण पाठशाला बंद पडी थी वही वंशाख कृष्णा द्वितीया को मुनि दीक्षा हुई तथा उसी समय पाठशाला का भी उद्घाटन हुआ जिसका ध्रुव फण्ड तीस पैंतीस हजार होकर पाठशाला पुनः व्यवस्थित रूप से चालू हुई । लगभग ये सभी पाठशालायें सुचारु रूप से चालू हैं और महाराज स्वयं पधार कर उनकी देखरेख भी करते रहते हैं । इतना ही नहीं, आप स्वपर के कल्याण में ग्रह-

निश जागरूक रहते हैं। आपकी सतत प्रेरणा से ही (१) मागोराजपुरा के चातुर्मास में श्री रत्नकरुण्ड श्रावकाचार का प्रकाशन (२) फुलेरा के चातुर्मास में 'सहज सुख साधन' का प्रकाशन (३) कुचामन सिटी के चातुर्मास में धर्म ध्यान प्रकाश का प्रकाशन (४) मारोठ के चातुर्मास में 'शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश' का प्रकाशन (५) सीकर में चातुर्मास में 'नरिन्द्र धर्म-प्रकाश' का प्रकाशन तथा भगवान श्री १००८ महावीर के केवलज्ञानोत्सव के उपलक्ष में कुचामन की जैन समाज द्वारा 'पाक्षिक व व्रती श्रावक का प्रतिक्रमणादि पाठ का प्रकाशन हुआ है। इनमें हमारे पास 'धर्मध्यान प्रकाश' व पाक्षिक व्रती श्रावक का प्रतिक्रमणादि पाठ की पुस्तकें ही स्टॉक में हैं बाकी सब प्रतिये समाप्त हो चुकी हैं। धर्मानुरागी व्रती एव त्यागी गण ही धर्मध्यान प्रकाश को मगावे। व्रती व साधारण श्रावक के लिये पाक्षिक श्रावक ग्रन्थ भेजा जा सकता है। जिन भाइयों को मंगाना हो वे बी. पी. एच. भेजकर नीचे लिखे पते से निः शुल्क मगा सकते हैं।

'चारित्र धर्म प्रकाश' के प्रकाशन में कुछ विलम्ब तो हुआ फिर भी बड़ी सुंदरता पूर्वक इस ग्रन्थ का सस्करण हुआ है। उक्त दोनों प्रकार की प्रेरणा के लिये हम पूज्य महाराज श्री के तो कृतज्ञ हैं ही किन्तु हमारे कार्य में सहयोग देने वाली सीकर समाज के भी हम अत्यन्त आभारी हैं और इसमें भाग लेनेवाले श्री सेठ सागरमलजी छावड़ा तथा श्री भंवरलालजी सेठी को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिनके प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कष्ट साधनाद्यो के कारण इस भव्य कृति का भी सुंदर साज सज्जा के साथ प्रकाशन हुआ। इस ग्रन्थ को धर्मानुरागी भाई सीकर से ही मंगाने का कष्ट करें। विज्ञेयु किमपिकम्।

विनोत :

पं० विद्याकुमार सेठी न्यायकाव्यतीर्थ

प्रधानाध्यापक

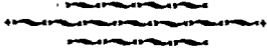
श्री दि० जैन विद्यालय, कुचामन सीटी

दिनांक

१-९-३६



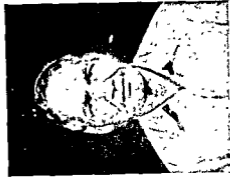
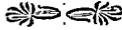
श्री स्व० दीवान श्रीचन्वजी साहब की स्मृति में उनके पुत्रों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में ४० ५०१) का सहयोग प्रदान किया है ।



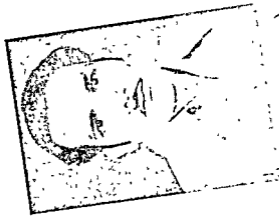
श्री दीवान भगवान वासुजी जैन द्वारा इस ग्रंथ के प्रकाशन में ४० ५०१) का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है ।



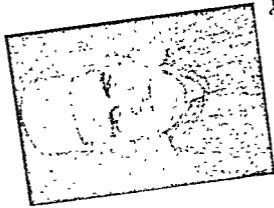
श्री रामकुमार जी रारा ग्राम दूजोद द्वारा इस
ग्रन्थ के प्रकाशन में ₹० ५०१) का आर्थिक सहयोग
प्राप्त हुआ है।



श्री घोसालालजी छावड़ा, सीकर द्वारा इस
ग्रन्थ के प्रकाशन में ₹० ५०१) का आर्थिक सहयोग
प्राप्त हुआ है।



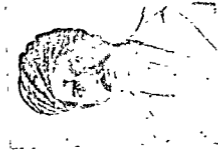
श्री राजकुमारजी छावड़ा (रिवासा वाला) द्वारा इस
ग्रंथ के प्रकाशन में ₹० ५०१) का आर्थिक सहयोग
प्राप्त हुआ है।



श्री भंवरलालजी छावड़ा (महालजीका) द्वारा इस
ग्रंथ के प्रकाशन में ₹० ५०१) का आर्थिक सहयोग
प्राप्त हुआ है।



स्व० श्री रतनलालजी धाकड़ा की स्मृति में उनके सुपुत्रों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में २० ५०१) का सहयोग प्रदान किया है।



स्व० श्री भंवरलालजी वडजात्या की स्मृति में उनके सुपुत्रों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में २० ५०१) का सहयोग प्रदान किया है।



स्व० श्री रतनलालजी धाकड़ा की स्मृति में उनके सुपुत्रों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में रु० ५०१) का सहयोग प्रदान किया है ।



स्व० श्री भंवरलालजी वड़जाह्या की स्मृति में उनके सुपुत्रों ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में रु० ५०१) का सहयोग प्रदान किया है ।

अनुक्रमणिका

विषय	पत्र संख्या
सम्पादकीय वक्तव्य	१ से १०
श्री चामुण्डराय का जीवन चरित्र	११ से १४
प्रस्तावना (भूमिका)	१६ से ३०
श्री १०८ मुनिराज विवेकसागरजी का सक्षिप्त जीवन चरित्र	३१ से ३४
मङ्गलाचरण (श्री पूज्य १०८ मुनिराज विवेकसागरजी)	१
मूल ग्रन्थ कर्ता का मङ्गलाचरण	१
धर्म का स्वरूप	२
गृहस्थ धर्म के ग्यारह भेद	३
दर्शन प्रतिभा का लक्षण	३
सम्यग्दर्शन के घाठ षड्भू	४ से १४
सम्यग्दर्शन की महिमा (महत्ता)	१४
सम्यग्दृष्टि के घाठ गुणों का वर्णन	१४
सम्यग्दर्शन की प्रशंसा	१५
सम्यग्दर्शन के पाच घटिचारों का वर्णन	१५ से १७
दान्य का लक्षण व तीन भेद	१८
सम्यग्दर्शन के घाठ दण्डादि दोष	१९
घाठ मद दोष	२०
उह् अनापत्तन दोष	२०
तीन मूढता दोष	२१
वत्त का लक्षण	२१
अहिंसापुत्र का लक्षण	२१ से २३
अहिंसापुत्र के पाच घटिचारों का वर्णन	२४
सत्यापुत्र का लक्षण व पाच घटिचार	२५
अधीर्मानुष्य का लक्षण	२६

विषय

पत्र संख्या

अर्च्यग्रन्थ के पांच अतिचार	२७ से २६
ब्रह्मचर्यग्रन्थ का लक्षण	३० से ३१
ब्रह्मचर्यग्रन्थ के पांच अतिचारों का वर्णन	३२ से ३४
परिग्रह परिमाणग्रन्थ का लक्षण	३४
परिग्रह परिमाणग्रन्थ के पांच अतिचारों का वर्णन	३५
रात्रि भोजन त्याग ग्रन्थ का लक्षण	३६ से ३७
शील सप्तक वर्णन	३८ से ४०
दिग्ब्रत के पांच अतिचारों का वर्णन	४० से ४३
देशब्रत के पांच अतिचारों का वर्णन	४४ से ४५
अनर्थ दण्ड ब्रत का लक्षण व भेद	४६ से ४८
अनर्थदण्डब्रत के पांच अतिचारों का वर्णन	४८ से ५०
शिक्षाब्रत के चार भेदों का वर्णन	५०
सामायिक शिक्षाब्रत का लक्षण	५० से ५१
सामायिक ब्रत के पांच अतिचारों का वर्णन	५२
प्रोषधोपवास का लक्षण	५३
प्रोषधोपवास के पांच अतिचार	५४ से ५६
भोगोपभोग परिमाण शिक्षाब्रत	५७
उप भोग परिभोग परिणाम ब्रत के पांच अतिचारों का वर्णन	५८ से ५९
प्रतिय सविभाग ब्रत का लक्षण	६० से ६५
प्रतिय संविभाग के पांच अतिचारों का वर्णन	६६ से ७५
सामायिक प्रतिमा का वर्णन	७६
प्रोषधोपवास प्रतिमा	७७
सचित्त त्याग प्रतिमा	७७
सचित्तत्यागका विशेष विवेचन	७७ से ८४
रात्रिभुजन ब्रत प्रतिमा	८५
ब्रह्मचर्यब्रत प्रतिमा	८६
शाम के अठारह हजार श्लोक	८७ से ८९

विनय शुद्धि	१३४
इर्थापय शुद्धि	१३५
भिक्षा शुद्धि	१३५
भिक्षा शुद्धि के पांच भेद दृष्टान्त द्वारा आचार्य कथन	१३६ से १३८
शयनासन शुद्धि	१३६
वाक्य शुद्धि	१४०
चरित्र के पांच भेद	१४० से १४२
सामायिक करने की आवश्यकता क्यों है ?	१४३
सामायिक का महात्म्य	१४३
सामायिक के छह भेद	१४४
भाव सामायिक का वर्णन	१४४
सामायिक संयम का उपदेश किमने किया ?	१४५
सामायिक करने का क्रम क्या है ?	१४६
चारित्र के पांच भेदों का विशेष विवरण	१४६ से १४८
संयम धारण करने का विशेष वर्णन	१४७ से १४८
अहिंसा महाव्रत का पांच भावना पूर्वक लक्षण	१५० से १५१
सत्यमहाव्रत का पांच भावना पूर्वक लक्षण	१५२
अर्चोय महाव्रत का पांच भावनाओं सहित लक्षण	१५३ से १५४
ब्रह्मचर्य महाव्रत का पांच भावनाओं सहित लक्षण	१५४ से १५५
परिग्रह त्याग महाव्रत व पांच भावनाओं का वर्णन	१५६ से १५७
पांच महाव्रतों का उपसंहार	१५८ से १५९
तीन प्रकार के दण्डों का भेद	१५९ से १६०
निर्दोष मुनियों के पांच भेदों का वर्णन	१६१ से १६२
पांच प्रकार के मुनियों के आठ प्रकार के चरित्र का वर्णन	१६२ से १६३
परीग्रह प्रकरण वर्णन	१६७
दण्डा परीग्रह उप	१६८
दण्डा परीग्रह उप	१६९

विषय

पत्र संख्या

दीप्त परीपह जय	१७० से १७१
उष्ण परीपह जय	१७१ से १७२
दंशमशक परीपह जय	१७२ से १७३
नग्न परीपह जय	१७३ से १७४
अरति परीपह जय	१७४ से १७५
स्त्री परीपह जय	१७५ से १७६
चर्चा परीपह जय	१७६ से १७७
निपद्या परीपह जय	१७७ से १७८
शैय्या परीपह जय	१७८
आक्रोश परीपह जय	१७९
वध परीपह जय	१७९ से १८०
याचना परीपह जय	१८० से १८१
अलाभ परीपह जय	१८१ से १८२
रोग परीपह जय	१८२ से १८३
तृण परीपह जय	१८३
मल परीपह जय	१८४
सरकार पुरस्कार परीपह जय	१८५
प्रज्ञा परीपह जय	१८५
अज्ञान परीपह जय	१८६
अदर्शन परीपह जय	१८६ से १८७
बाईस परीपहो का उप संहार	१८७ से १८८
बाईस परीपह किस २ गुण स्थान में कितने २ होते हैं उनका वर्णन	१८८ से १९०
तप वर्णन (वाह्यतप)	१९१
अनशन तप	१९१
अवमौदर्य तप	१९२
वृत्तिपरिसंख्यान तप	१९२
रस परित्याग तप	१९२
बिबक्त शैय्यासन तप	१९३

विषय

पृष्ठ संख्या

आश्रयानु प्रेक्षा	२५५ से २५६
मवारानु प्रेक्षा	२६० से २६२
लोकानु प्रेक्षा	२६२ से २६३
बोधदुर्लभानु प्रेक्षा	२६४ से २६७
धर्म स्वाम्यातत्वानु प्रेक्षा	२६७ से २६६
आज्ञा विषय धर्म ध्यान का स्वरूप	२६६
हेतु विषय धर्म ध्यान	२६६ से २७०
प्रथम शुक्ल ध्यान	२७१ से २७३
द्वितीय एकत्ववितर्क विचार शुक्ल ध्यान	२७३ से २७६
समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्ल ध्यान	२७६ से २७८
चौसठ ऋद्धियों का वर्णन बोज ऋद्धि आदि	२७८ से २८१
दश पूर्वित्व ऋद्धि	२८१ से २८४
प्रज्ञाश्रवणत्व ऋद्धि	२८४ से २८५
क्रिया ऋद्धि	२८५ से २८६
विक्रिया ऋद्धि	२८६ से २८७
तप ऋद्धि	२८८ से २९१
बल ऋद्धि	२९१ से २९२
श्रोत्र ऋद्धि	२९२ से २९४
रस ऋद्धि	२९४ से २९५
क्षेत्र ऋद्धि	२९५ से २९६
तपस्चरण की महत्ता	२९६ से ३००
अन्तिम मङ्गलाचरण	३०१ से ३०२
महत्त्व पूर्ण चिट्ठी	३०३ से ३०४
पट्टावली	३०५ से ३२४

मगलम् भगवान् वीरो मगलम् गौतमो गणी ।
मगलम् कुन्द कुन्दायो जैनधर्मोऽस्तु मगलम् ॥

हमारे चातुर्मासि के उपलक्ष में सीकर जैन समाज ने जो 'चारित्र्य धर्म-प्रकाश' ग्रन्थ का प्रकाशन करवाया है, उसमें जिन २ महानुभावों ने आर्थिक सहायता तथा विभिन्न प्रकार से सहयोग दिया है उन सबको हमारा शुभाशीर्वाद !

सीकर जैन समाज ने इस प्रकाशन के कार्य को सम्पन्न कर आहार दान एवम् ज्ञान दान दोनों का ही पुण्य लाभ लिया है । आशा है इसी प्रकार उत्तरोत्तर अपना उत्साह बढ़ाते रहेंगे ।

3

4

5

6

7

8

9

मार्ग में भाग्यव्यय है यदि वह तब दिनाः जात हो तबै संपूर्णतः नही होती।

हिनामृत चौर्येभ्यो मेषुन - मेवा - परिग्रहाभ्यां च ।

पाप प्रजातिहाराभ्यो विरतिः संज्ञाय चारित्र्यम् ॥

अर्थ - हिना अमृत योगे कहीन तथा परिग्रह रूप पाप के मार्गों से त्याग करना ही मर्यादाओं का चारित्र्य है ।

मानव जब नव भा - ज्ञान नही होगा तब तब उसको सन्तुष्टि में ही शास्त्र, गुरु पर विश्वास नही होगा और विद्याय नही होने में सद्गुरु मार्ग गृहस्थान के भावों के समान उमरव्यय उम जीव की स्थिति मनी रहेगी ।

संसार में हिंसादि पाप पापों का त्याग करना ही योग रूप ही चारित्र्य बताया गया है । पारमार्थिक दृष्टि से अनांश परिपूर्ण आत्मा ही चारित्र्य का स्वरूप है ।

ममस्त परिग्रह के त्यागी मुनिश्रमों का चारित्र्य ही सकल चारित्र्य है और परिग्रह में निष्ण गृहस्थों का चारित्र्य ही विकल चारित्र्य है ।

उपर्युक्त हिंसा, असत्य, चोरी, कुशोल और परिग्रह पापों पापों से रिक्त होना ही गृहस्थ के लिये मोटे रूप से पञ्चाणुषतों का पालन करना है । इन पञ्चाणुषतों के अतिरिक्त रात्रिभोजन त्याग नामका छटा अणुषत भी किसी धाचार्यों द्वारा वर्णन किया गया है ।

इस युग में रात्रि भोजन त्याग की तरफ विशेष रूप से ध्यान दिया जावे तो जिज्ञा की सम्पत्ता तो दूर होगी ही इसके अतिरिक्त कुलीन नवयुवक अधिकतर छिपे रूप में रात्रि में अभक्ष्य पदार्थों का भोजन कर कुमार्ग-गामी हो रहे हैं उसका भी बचाव ही जावेगा ।

भारत सरकार द्वारा प्रकाशित "बालभारती" पत्रिका में एक बार समाचार प्रकाशित हुए थे कि एक बार एक जहरीली मक्खी को रात्रि के समय में दूध के साथ पी जाने से बालिका मृत्युंगत ही गई थी ऐसी शल्य चिकित्सकों की रिपोर्ट थी ।

जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है और उसने प्रत्येक विषय को परखने में तार्त्विक दृष्टिकोण अपनाया है, इस ही वास्ते आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपनी समस्त आधार निना प्राचीन जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित मार्ग का ही अनुसरण कर अन्वेषण तब पट्टेपने के प्रयत्न में लगे हुए हैं । वास्तव में जैन समाज

शास्त्रानुसार वैज्ञानिक अपने निश्चित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकेंगे यह कटु-सत्य है ।

सनातनी ग्रन्थों में विद्वानों ने यहाँ तक प्रतिपादन किया है । कि खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेह्य इन चारों प्रकार के आहार का रात्रि के समय में त्यागी प्राणी अपने सम्पूर्ण जीवन में आद्ये जीवन के उपवासो का फल विना किसी कठिन तपस्या के ही प्राप्त कर लेता है ।

एक साधारण गृहस्थ भी यदि मायकाल का भोजन करने के पश्चात् प्रातःकाल तक के सापूर्ण या अन्नादिक पदार्थों का त्याग कर देता है तो वह भी ब्रती है, यदि उस काल में ही आयु पूर्ण हो जावे तो उस किञ्चित् व्रत के फल में ही कुगतियों के कष्ट से मुक्त हो जाता है ।

अतः अभक्ष्य पदार्थों का त्याग व रात्रि भोजन का त्याग कर देना ही मानव मात्र को स्वास्थ्य व वैज्ञानिक एवं धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद है ।

आज अहिंसा और सत्य की दुहाई तो केन्द्रीय सरकार द्वारा बड़ी तेजी से दी जा रही है किन्तु अत्यन्त लोभ के वशीभूत होकर बन्दर, मछली, अण्डे, मांसादिकों का विदेशों में निर्यात करके मानव-मात्र के चरित्र का हनन कर रही है ।

देखिये ! एक असत्य भाषण करने के कारण से जापानदेश के प्रधान मंत्री "श्री तनाका" को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा । अमेरिका के राष्ट्र-पति "श्री रिचर्ड निक्सन" को वाटर गेट काण्ड में असत्य कथन के कारण राष्ट्र-पति पद छोड़ना पड़ा । पश्चिम जर्मनी के प्रधान मंत्री "श्री बिलीब्रांत" को अपने सहयोगी की देश द्रोह की जिम्मेवारी लेकर पद त्याग करना पड़ा । सत्ता के बल पर सत्ता से चिपके रहना राजनीतिक विवेक का परिचायक नहीं हो सकता, असली शीज है जनता का विश्वास क्योंकि सत्ता में जनता का पूर्ण विश्वास ही लोवशाही का आधार होता है । भारतव में इस लोक और परलोक में सत्यको जीवन में उतारने से ही चारित्र्य की सिद्धि हो सकती है । अन्यथा नहीं ।

वस्तुतः श्री १००८ भगवान महावीर तीर्थंकर की पञ्चीमीवी निर्वाण तिथि का विशाल रूप से विश्व की राज्य सरकारों द्वारा मनाया जाना तब ही उत्थान प्रद होगा जब कि मद्य, मांसादि जीव हिंसा पर पूर्ण रूप से प्रति-बंध लगाया जाकर भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित मिद्धान्तों को अमल में लाया जावेगा ।

देसिये । केवल ईक्कीस करोड़ की आबादी वाले अमेरिका देश में एक वर्ष में ही फरीब अट्टाई अरब रुपयों की मदिरा बान कर ली जाती है ।

जब तक श्री जिनेन्द्र देव द्वारा कथित अहिंसा को नहीं अपनाया जावेगा तब तक कोई भी राष्ट्र उन्नतिशील नहीं हो सकेगा और देश के चारित्र्यबल को नहीं उठा सकेगा ।

प्राकृतिक नियमानुकूल किसान के खेत में पैदा हुवा अन्न का तीन चतुर्थांश पशु पक्षी के लिये होता है । यदि स्थूल पशुहिंसा का परित्याग करके भेन में बीज बोया जावे तो वर्तमान से कई गुणा अनाज पैदा हो जावेगा और विश्व की भुखमरी स्वयमेव ही दूर हो जावेगी ।

भगवान महावीर ने तत्कालीन पशुवृत्ति का इस अहिंसा और सत्य सिद्धान्त का प्रचार व प्रसार करके ही प्राणीमात्र का एवं स्वयं का उद्धार करके महान् चारित्र्य की उत्तमता प्रकट कर मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी ।

भगवान महावीर द्वारा कथित केवल अहिंसा के सिद्धान्त को ही मानव भनी प्रकार में अपना लेवे तो आज पुन धर २ में दूध और घों की नदियाँ यही हुई नजर आवेगी । जब अहिंसा को मानव धारण कर लेगा तो सत्य का पालन तो स्वयमेव ही हो जावेगा और अहिंसा के पालन से ही चोरी के महान् पाप में बच जावेगा, इसमें ही फुशील जैसे दुर्गति के कारण की भी हटाव प्रकृति दूर होगी और अपरीग्रहवाद के चल में तो जन्म जन्मान्तर में भव्य जीव मुक्ति का अधिकारी बन जावेगा ।

आज से करीब दो हजार वर्ष पूर्व में ग्रीस देश के महान् सुधारक "श्री मुक्तरान" ने भगवान महावीर के अपरिग्रहवाद पर जोर देते हुए कहा था कि 'हे मानव ! तू अपनी आवश्यकताओं को जिनकी कम करेगा उतने ही जल्दी उन्नत चारित्र्य धारी परमात्म स्वरूप महावीरवत् बन जावेगा" ।

मानव में इन अपरिग्रहवाद को ही जीवन में उतारने से शान्ति और उन्नति के मार्ग द्वारा सामगति प्राप्त होकर अष्ट कर्म सभी कारागृह में ब्रह्म निरूपण का फल मर्त्य स्वरूप होकर मिदालय में जा विराजता है ।

इन्द्रिय । इन्द्रिय, रमना, ध्यान, धनु और श्रोतु (कर्ण) इन पञ्चेन्द्रियों से जो उन्नत हुए हैं ध्यान इन्द्रिय के बनी भूत होकर भौरा व स्वर्गान इन्द्रिय के बल में होकर काम में महान्मत्त हाथी, रमना का माग लोनुपी राजा कुंभ,

कर्ण का लोभी मणिधर सर्प और चक्षु दर्शन का लोभी नाट्य दर्शनक साधु ने अपने चारित्र्य से गिरकर अनेक दुर्गंतियों में भ्रमण किया ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनोय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय इन आठ कर्मों को एक अहिमा यानी समभाव के द्वारा प्राणी अपने से दूर कर सकता है । अहिमा आध्यात्मिक और लौकिक उन्नति की पुत्रवती माता के समान है । श्री भगवान के एक हजार आठ नाम हैं और उसमें ही भगवान की "महादय" नाम से इन्द्र ने कहा है उसका अन्तरङ्ग लक्ष्य यही है कि भगवान महान् दया सहित है इस ही लिये उन्हें 'महोदय' भी कहते हैं; क्योंकि उनका उदय यानी भगवान की उन्नति ही महान् (बड़ी) है ।

महान् दार्शनिक भूतपूर्व महान् महामहिम भारतीय राष्ट्रपति श्री डा० राधाकृष्णनन् ने देहली महावीर जयन्त्युत्सव पर गभीर मुद्रायुक्त होकर सन् १९६३ में अपने विचार व्यक्त किये थे कि "आज के मानव में इस महान् संकट के समय में श्री भगवान महावीरवत् उनके समान इन्द्रिय जय, संयम तथा धीरता आदि गुणों की बड़ी ही आवश्यकता है ऐसा करने से ही सुख व शान्ति प्राप्त हो सकती है" ।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्ष प्राभूतमें कहा है कि :-

दुखे णज्जह अप्पा णाऊण भावणा दुखं ।

भाविय - सहावपरिसो विसएसु विरज्जए दुखं ॥६५॥

अर्थ:- आत्मज्ञान बड़ी ही कठिनता में प्राप्त होता है । आत्म-बोध होने पर उसकी भावना कठिन कार्य है । आत्मा की भावना करने वाला प्राणी बड़ी ही कठिनता में सांसारिक विषय भोगों में विरक्त होता है । भोगों को त्यागना ही छोड़ देना ही आत्म विवाम का मूल कारण है ।

वर्तमान काल में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जो अहिमा और मरत्य के महान् पुजारो (उपासक) थे । गांधीजी ने दक्षिण प्रान्त के प्रवास काल में एक ही वर्ष वाली प्रामोण महिना को छह माह बाद स्नान करने हुए मंगोदर के बिनारो देगा तो उन्होंने उममें पूछा कि एक ही उन्नतीय वर्ष होने का क्या कारण है तो उमने उनको उत्तर दिया था कि "मैंने अपनी मरीची घटमा में अनुभव किया है कि मानव एक वर्ष पारी होकर ही मरीची व मर्यादा घटकर मोह ममता को छोड़कर इहमीविक व पारमीविक आध्यात्मिक बन सकता है"

बध सवर, निर्जरा और मोक्ष इन्ही सात तत्वों पर पक्का विश्वास कर लेना सम्यग्दर्शन है। जब मानव पूर्ण सम्यक्त्वी हो जाता है तब ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर चारित्र्य को अमल में लाने की सामर्थ्यता प्राप्त करता है। रत्नत्रय रूपी ज्योतिषुक्त आत्म ज्ञान ही मोक्ष मार्ग है।

गीता में कहा है कि :-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५ अ. ६॥

हे अर्जुन ! इसमें सन्देह नहीं है कि मन चंचल है और उसको दश में करना कठिन है, किन्तु अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा वह मोह, मद वश में किया जाता है।

इस सम्बन्ध में जनाचार्य का मार्मिक एवं अनुभव पूर्ण मार्गदर्शन भी वृष्टय है :-

सङ्गत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रत धारणम् ।

मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान जन्मनः ॥

सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके दिगम्बर मुद्रा स्वीकार करना, रागद्वेषादि मनोविकारों का दमन करना, व्रतों का पालन करना, मन तथा इन्द्रियों को जीतना यह ध्यान की कारण रूप सामग्री है। बाह्य धन-धान्यादि सामग्री के होने पर मन उस ओर सदा आसक्त होता है। आसक्ति, शूल, उज्ज्वल महापुरुष बाह्य सामग्री को किस हेतु पास रखेगा ? जड के त्याग से ही चैतन्य निखर जाता है।

आत्म स्वरूप के संबंध में पल्लोवाल जैनजात्युत्पन्न श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में बताया है कि :-

अरस-मरुव-मगंधं अद्वत्तं चेदणागुणमसदं ।

जाण अलिगग्गहणं जीव-मणिदिट्ठ संठाणं ॥१७२॥

अर्थ :- जीव का स्वरूप रस रहित, रूप रहित, गंध रहित, स्पर्श रहित शब्द रहित, किसी के चिन्ह द्वारा न ग्रहण करने योग्य एवं किसी भी तरह के आकार रहित होता है।

इस आध्यात्मिकता को प्राप्ति हेतु मानव को अपने हृदय में सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिये। सम्यग्दर्शन के बाद ही सम्यग्ज्ञान धारण करना आवश्यक

का अभाव साही प्रतीत हो रहा है क्योंकि इन्होंने समय २ पर अपने राजकीय अत्यन्तावश्यक कार्यों से समय निकाल कर स्वयं यहाँ (सीकर) पधार कर मुझे सम्पादन कार्य में मार्ग दर्शन करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त डा. सा. ने निःस्वार्थ रूप में इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिख कर तो चार चाँद ही लगा दिये हैं।

इस ग्रन्थ की लेखन की त्रुटियों का आद्योपान्त अवलोकन व मिलान करने में कड़ाके की शांतकालीन रात्रियों में भी स्वामीय वैश्याकरणी महान् विद्वान् श्री पण्डित फूलचंदजी जैन व्याकरण तीर्थ, शास्त्री, एवं बडौत निवासी श्री पं. राजकिशोरजी बी. एस. सी. ने महती कृपा की है। अतः उनका भी पूर्णा-भारी हूँ।

श्री लोक मंगल प्रेस सीकर के मालिक एवं साप्ताहिक "लोक मंगल पत्र" के संपादक महोदय श्रीमान् भँवरलालजी सेठी ने प्रारम्भ से ही एक दम नवीनतम टाईप त्रय करके इस अपूर्व ग्रन्थ के प्रकाशन का भार वहन कर अपने उत्तरदायित्व को निवाहते हुए पुण्य लाभ उठाया है। एतदर्थ धन्यवाद के पात्र है।

श्री दिगम्बर जैन समाज सीकर ने श्री १०८ मुनिराज विवेक सागर जी महाराज की सद् प्रेरणा से इस परम पुनीत पञ्चीसवीं श्री १००८ भगवान् महावीर के निर्वाण महोत्सवोपलक्ष में जैन सिद्धान्तों का प्रचार सावजनिक नि शुल्क लाभार्थ हेतु इस महार्थकाल में सम्पूर्ण आर्थिक व्यय-वहन करके इस चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग शास्त्र दान में करके अपूर्व लाभ लिया है यह अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय है।

मुझे अजमेर निवासी श्रीमान् वाणिज्य भूषण, सिद्धान्त शिरोमणि, जैन वाङ्मय के महान् उपासक एवं सरस्वती के मूक सेवक, सुविज्ञ लेखक, मूर्धन्य विद्वान् ब्रह्मचारी पण्डित विद्याकुमारजी सेठी न्याय-काव्यतीर्थ, शास्त्री प्रधानाचार्य श्री दिगम्बर जैन विद्यालय कुचामन ने कई वार यहाँ स्वयं पधार कर तथा अनेक पत्रों द्वारा इस सम्पादन कार्य में प्रोत्साहित करते रहे हैं। उन्हीं की सतत लगन के प्रतिफल स्वरूप इस महान् ग्रन्थ की परिपूर्णता रही है। इस सम्पूर्ण कार्य में मेरे भ्रातृज द्वय श्री मा० भागचन्द्र पाटणी बी. ए. सा. विशारद एवं श्री कलाचन्द्र पाटणी बी. ए. एल. एल. बी. ने मन्त्रिय योग दान कर अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभाया है। यह सन्तोष का विषय है।

अखिल भारत वर्षीय पञ्चीसवीं श्री महावीर निर्वाणोत्सव प्रबन्धकारिणी

कमेटी के परमात्मता मन्त्रण एवं अर्थ मन्त्रालय के व्याख्यातक श्री श्रीराम
 केदारोमनजी या व श्री महाशय जैन साहय श्री १९१७ मन्त्रालय कमेटी के
 मंत्री महोदय नरनाथ श्री महाशयमहाशयजी साहाय्य करने तथा श्री दिगम्बर
 जैन श्रीम पयो मन्त्र के सुवन्धक ममान में तो श्री प्रभुवाराजी जैन श्री
 श्री मगलचन्द्र वागवन्ध कर्म क मासिक योगान् भेद सागरमन्त्री जै
 मादव का विनोय पत्रभागे हैं कि मुझ मन्त्रालय पर पत्रार को मुनिमा देव
 इस पुण्य कार्य में योग प्रदान किया है।

इस ग्रन्थ की परिपूर्णता होने पर श्री भगवान् महाशय स्वामी के मोक्ष
 जाने के पश्चात् पट्टागारी घाणायं मुनिराज व भट्टारक आदि संगत् १ (एक)
 से १९९७ (उत्तरीसो सन्वाणयं) तक हुए उनकी पट्टागारी श्री भट्टारक मुनीन्द्र
 कीर्ति दिगम्बर जैन प्राचीन साम्प्र मन्त्रार नागौर का अनुगन्धान करते समय
 मुझे प्राप्त हुई थी। उसको भी ज्यों की र्यों दगनिये प्रकाशित की गई है कि
 विद्वस्त रूप से शोध कार्य एवं प्राचीन इतिहास का ज्ञान व उनकी उद्भूत
 विद्वत्ता द्वारा की गई सरस्वती सेवा का सर्व साधारण को भान होकर त्याग
 व चारित्र्योत्थान में सहायक स्वरूप सिद्ध हो सके। इसको मुद्रित कराने का
 एक मात्र यही उद्देश्य रहा है।

अन्त में इस चारित्र्य संबंधी ग्रन्थ को बयोवृद्ध श्रद्धेय गुन्वर्यं उग्रधोर
 तपस्वी, परम चारित्र्यव्रतधारी, निर्भीक चारित्र्यधर्म प्रचारक, निस्पृह वीतरागी,
 प्राचीन साहित्योद्धारक, चतुर्थकालीन मुनिमार्गवन् चालक श्री १०८ दिगम्बर
 जैन मुनिश्वर विवेकसागरजी महाराज के कर कमलों में ज्ञान सवद्धंनार्थं ब्राज
 श्री १००८ तीर्थङ्कर भगवान् महाशय स्वामी के पञ्चोत्तम निवाणं दीपावली
 महोत्सव की शुभवेला में सादर समर्पित करते हुए अन्ततोगत्वा मोक्ष प्राप्ति
 की अभिलाषा करता हूँ। इत्यन्तम्।

मूल ग्रन्थ कर्ता :-

श्रीमच्छामुण्डराय का प्रामाणिक जीवन चरित्र

श्रीमच्छामुण्डराय ग्यारहवीं शताब्दी के विद्वान् थे। आपने ब्रह्म क्षत्रिय वंश में वैश्य कुल को मुशोभित किया था। शिला लेख में इन्हें "ब्रह्म क्षत्र कुलीयया शिरोभूयामणि" कहा गया है। यह गंग वंशी राजा श्री राचमल्ल के प्रधान मंत्री और सेनापति थे। श्री राचमल्ल चतुर्थ का राज्य काल शक सं. ८६६ से ९०६ (विक्रम सं. १०३१ से १०४१) तक सुनिश्चित है। ये गंग वंशमार सिंह के उत्तराधिकारी थे। श्रीमच्छामुण्डराय इनके समय में भी सेनापति रहे। इनका गृह नाम "गोम्मट" था और "राय" राजा श्रीराचमल्ल द्वारा प्रदत्त पदवी थी, इस ही कारण से इनका नाम "गोम्मटराय" भी था। श्री बाहुबली की मूर्तिका नाम "गोम्मट जिन" और पंच संग्रह का नाम "गोम्मट संग्रह सूत्र" इन्हीं के नाम के कारण हुआ है क्योंकि श्री चामुण्डराय के प्रश्न के अनुसार ही जय धवलादि सिद्धान्तों के आधार से श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चरित्रों ने गोम्मटसार की रचना की है।

श्री मारसिंह और इनके उत्तराधिकारी पुत्र श्री राचमल्ल का समय गंग-वंश के लिये भयावह था; क्योंकि पश्चिमी चालुक्य, नोसम्ब, तथा पल्लय आदि गंगवंश के महान शत्रु थे। चालुक्यों के खतरे के विनाश का श्रेय श्री चामुण्डराय को ही है।

श्वणवेतगोल के कुर्ग ब्रह्मदेव स्तंभ पर उत्कीर्ण लेख (९७४ ई) में लिखा है कि इस प्रसिद्ध कुर्ग पर हुए ध्वजमण ने विश्व को आश्चर्य में डाल दिया। श्री चामुण्डराय ने अपने पुराण में इस बात को स्वीकार किया है कि इस विजय में ही उन्हें "रण रंग सिंह" की उपाधि प्राप्त हुई थी।

श्री मच्छामुण्डराय केवल महामाय ही नहीं थे बल्कि घोर सेना नायक भी थे, इनके समान घोरघोर दूद स्वामी भक्त मंत्री बर्नाटक के इतिहास में अन्य नहीं हुआ, इन्होंने अपने स्वामी के लिये अनेक मुझ जीने द्ये। धौगोविन्द राज, धी वेहाण्डुशात्र आदि अनेक राजाओं को पराजित किया था। इसके उपनक्ष में उन्हें "समरधुरंधर, घोर मार्गण्ड, रणरंग सिंह, बंरीकुम बाल

उपर्युक्त इन सब उपाधियों से ऐसा मालूम होता है कि श्री मन्चामुण्ड-
राय अपने समय के कितने प्रतापो और धीर सेनापति थे। वे केवल धीर
सेनापति ही नहीं थे किन्तु अच्छे विद्वान और कविराज भी थे। उनकी उप-
लब्धिया उनकी महत्ता और गौरव की सद्योतक है।

उपलब्धियाः—

गोम्मट-संग्रह सुत्तं गोम्मट सिंहखरि गोम्मट जिणोय ।

गोम्मट राय-विणिम्मिय-दाखिण कुक्कुड जिणो जयउ ॥

उपर्युक्त गाय्या मे तीन कार्यों का उल्लेख है और उन्ही का जयघोष
किया गया है। 'गोम्मट संग्रह सूत्र' "गोम्मट जिन," और 'दक्षिण कुक्कुड
जिन'। गोम्मट जिनसे भगवान नेमोनाय की उस एक हाथ प्रमाण 'इन्द्रनील-
मणि' की प्रतिमा से है; जिसे "गोम्मटराय" ने बनवाकर चन्द्रगिरि पर्वत पर
स्थित अपने मन्दिर में स्थापित की थी और "दक्षिण कुक्कुड जिन" से अभि-
प्राय "बाहुबली" की उस विशाल मूर्ति से है जो पोवनपुर में भरत चक्रवर्ती
ने बाहुबली की उन्हीं के शरीराकृति जैसी मूर्ति बनवाई थी जो 'कुक्कुड सर्पों'
से व्याप्त होने के कारण से दुर्लभ दर्शन हो गई थी उसही के अनुरूप यह मूर्ति
विन्ध्यगिरि पर विराजमान की गई थी। "दक्षिण" विशेषण उसकी भिन्नता
का द्योतक है। अपनी माता की इच्छानुसार ही "गोम्मट स्वामो" की मूर्ति
का निर्माण श्रीमन्चामुण्डराय ने कराया था।

श्री मन्चामुण्डराय की अमर कीर्ति का महत्व पूर्ण प्रतीक श्रवणबेलगोला
में प्रतिष्ठापित जगद्विख्यात बाहुबली की मूर्ति है जो सत्तावन फीट उन्नत
(ऊँची) और विशाल है। जिसका निर्माण श्री चामुण्डराय ने कराया था
जो धूप, वर्षा, सर्दी, गर्मी और भ्रान्धों की बाधाओं को सहते हुए भी अविचल
स्थित है। मूर्ति, शिल्पी की कल्पना का साकार रूप है। मूर्ति के नख आदि
वैभवं ही अकित है जैसे उनका आज ही निर्माण हुआ हो। श्री चामुण्डराय ने
बाहुबली की मूर्ति की प्रतिष्ठा ई. ६८१ में कराई थी। लगभग एक हजार
वर्ष का समय व्यतीत हो जाने पर भी वह वैसी ही सुन्दर प्रतीत होती है
एवम् संसार के दशवें प्राश्चर्य के रूप में उल्लिखित की जाती है। दशक की
आँखें उसे देखते ही प्रसन्नता से भर जाती हैं। बाहुबली की यह मूर्ति ध्याना-
वस्था की है। वे केवल ज्ञान होने से पूर्व जिस रूप में स्थित थे वही लता बेलें
जो बाहुओं तक उत्कीर्णित है और नीचे सर्पों की वामियाँ भी बनी हुई है, उस

ही रूप को कलाकार ने यक्ति किया है। दर्शन मूर्ति को देगकर होता। उसकी भावना उमे वाग वाग देने की होती है। मूर्ति दर्शन प्राप्तलाभ होता है उमे शररो द्वारा वाक नहीं किया जागता। उमेके कन से यह भावना प्रभिव्यक्त होती है कि यनिम गमग मे दग मूर्ति वा हो। श्री चामुण्डराय द्वारा बनवाये जाने का उद्देश्य है श्रीर 'गोम्मत सुत से प्रभिप्राय 'गोम्मत सार' से है।

दूसरी उपलब्धि "त्रिपट्टि शलाका पुराण चरित्त" है, जिमे श्री चामुण्डराय स० ६०० ईश्वो गन् ६७८ (वि० ग० १०३५) में बनाकर समाप्त किया था। इसमे चौबीस तीर्थंकरों के चरित्र के साथ चतुर्वर्गी आदि महापुराणों पावन जीवन चरित्र प्रकित किया गया है। इनके प्रारंभ मे लिखा है कि इ चरित्र को पहिले कुचि भट्टारक तदनन्तर 'नन्द मुनीश्वर, तत्पश्चात् 'कवि परमेश्वर और तत्पश्चात् 'जिनसेन गुण भद्रश्चामी, दग प्रकार परंपरा से कहते आये हैं श्रीर उन्ही के अनुसार मैं भी कहता हूँ। मगला चरण में गुड पिच्छाचार्य से लेकर अजितसेन पर्यन्त आचार्यों की स्तुति की है श्रीर अन्त में श्रुतकेवली दशपूर्वधर, एकदशागधर, आचारागधर, पूर्वांग देग धर के नाम कह कर अहंदंबली, माघनन्दि, भूतबलि, पुण्डवन्त, गुणधर, शामकुण्डाचार्य, तम्बूलूराचार्य, समन्तभद्र, शुभनन्दि, रविनन्दि, एलाचार्य, नागसेन, वीरसेन, जिनसेन आदि का उल्लेख किया गया है फिर अपने गुरु की स्तुति की है। यह पुराण प्रायः गद्यमय है, पद्य बहुत कम हैं। कनड़ी भाषा के उपलब्ध ग्रन्थों में चामुण्डराय पुराण ही सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। श्री चामुण्डराय के गुरु का नाम श्री अजित सेनाचार्य था जो उस समय के बहुत बडे विद्वान् तपस्वी श्रीर क्षणाशील थे। उनके अनेक शिष्य थे। वंकापुर में उन्होंने अनेक शिष्यों को शिक्षा दी। श्री आचार्य नेमीचन्द्र नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती पर भी उनका स्नेह था। श्री आचार्य नेमीचन्द्र मिदान्तचक्रवर्ती ने श्री चामुण्डराय के प्रश्नानुसार ही पञ्च सग्रह (गोम्मतसार) की रचना की थी। श्री चामुण्डराय वीर श्रीर महादानी थे। जन्म धर्म के लिए उन्होंने जो कुछ किया उससे भारतीय इतिहास में उन्हें अमर बना दिया है।

तीसरी उपलब्धि "चरित्रसार" यानी 'भावनासारसंग्रह' है जिगदी उन्होंने तरवारंराज वातिक, सिद्धान्तमूत्र, महापुराण से लेकर रचना की है जैसा कि उनके अन्तिम

तत्त्वार्थं शङ्खान्त महापुराणे स्वाचार शास्त्रेषु च विस्तरोकृतम्
 आख्यात्समादन्युयोगदेवी चरित्रसारं रणरंग सिंहः ॥

इसमें गृहस्थ और मुनियों के आचार का व्यवस्थित वर्णन है उसका सकलन संबंध सुन्दर है, कथन की सम्बद्धता ही उसकी प्रामाणिकता का माप-दण्ड है ।

यह ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ सुव्यवस्थित रूप से प्रकाशित हो रहा है ।

गोम्मटसार को देशी कर्णाटक वृत्ति भी इनकी बनाई हुई कही जाती है किन्तु वह अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है ।

त्रिक्कवेट्ट पर इनके द्वारा एक वसति (वसतिका) बनाये जाने का उल्लेख मिलता है । इनके पुत्र का नाम जिन देवण था जो अजितसेनाचार्य का शिष्य था । श्री जिनदेवण ने श्रवणबेलगोल में श्री जिन मंदिर का निर्माण कराया था । यह लेख शक सं० ६६२ (सन् १०४०) में उत्कीर्ण किया गया है ।

जिन ग्रह्यं बेल गोल दोल जनमेल्लं योगले मंत्रि चामुण्डजनन्दनो
 लविं माडिसिदं जनदेवणन जनसेन मुनवर गुडुं ॥१॥

जैन लेख सं० भाग १ पृष्ठ १४६ ।

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग २ प० स० २६५ से ६७ तक एक अन्य पट्टावली जो शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश ग्रन्थ में अंकित की गई है उसमें श्री चामुण्डराय को मुनिश्वर आचार्य के रूपमें भी बताया गया है । इनके गुरु श्री जिनसेना चार्य मुनिराज थे इससे इनका मुनिमहाव्रत धारण करलेना कोई आश्चर्य जनक बात नहीं है । उपर्युक्त जैन धर्म के प्राचीन इतिहास भाग भाग २ के विद्वान लेखक श्रीमान् प० परमानन्दजी शास्त्री ने श्री चामुण्डराय के निरर्ण्य साधु अवस्था में न होने का कोई ठोस प्रमाणित प्रमाण नहीं दिया है । अतः पट्टावली को नितान्त अनर्ण्य भी नहीं कहा जा सकता है । इनके जीवन व कृतियों के संबंध में अभी भी विनोप अनुसन्धान की अत्यन्त आवश्यकता है ।

न० सतीशचन्द्र पाटनी शास्त्री
 साहित्य-रत्न

इन भट्टारकों में भट्टारक सकलकीर्ति का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। और जब देश में भट्टारकों का युग आया तो उन्होंने भी इस भाषा में संकटों ग्रन्थ लिखकर इनके गौरव में अभिवृद्धि की। ऐसे भट्टारकों में शुभचन्द्र, भ० सकलकीर्ति, ब्रह्मजिनदास, भ० जानभूषण के नाम उल्लेखनीय हैं।

उत्तर भारत के समान दक्षिण भारत में भी सस्कृत भाषा के कितने ही धुरन्धर विद्वान् हुए जिन्होंने सस्कृत में अनेक काव्यों की रचना करके इसके प्रचार प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। ऐसे विद्वानों में महाकवि चामुण्डराय का नाम उल्लेखनीय है।

जैन ऐतिहासिक महाव्यक्तियों में वीरमार्तण्ड चामुण्डराय का नाम अमर है। भारतीय इतिहास इनके अमर कृतित्व व व्यक्तित्व को कदापि विस्मृत नहीं कर सकता। इनके द्वारा निर्मापित श्रवणवेलगोला की वह अद्भुत उन्नत, भव्य, मनोज्ञ एवं विशाल मूर्ति जब तक विराजमान रहेगी तब तक इनका धवल यश भी अविच्छिन्न रूप से फैला रहेगा। जिस प्रकार वह मूर्ति अद्भुत, अनुपम एवं विशाल है उसी प्रकार वीरमार्तण्ड का व्यक्तित्व भी सचमुच अद्भुत अनुपम तथा महान् है। यद्यपि चामुण्डराय की जीवन घटनाओं का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त नहीं है, तथापि यत्र-तत्र उपलब्ध कीर्तिगाथाओं से इनके महान् व्यक्तित्व का पता अवश्य लग जाता है।

चामुण्डराय द्वारा रचित त्रिपिटिलक्षण महापुराण^१ (अपर नाम—चामुण्डराय पुराण) एवं श्रवणवेलगोला के विध्यगिरिवाले २८१ वे शिलालेख में चामुण्डराय को ब्रह्म क्षत्रिय वंशज बतलाया गया है। इससे अनुमान होता है कि मूलतः ये ब्राह्मण वंशज थे, पश्चात् क्षत्रियकर्म अर्थात् असि कर्म को अपनाने से यह क्षत्रिय के रूप में परिगणित हो गये। दुर्भाग्य से इनके माता-पिता कौन थे और इनका जन्म कहां, कब और किस तिथि को हुआ था आदि का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। वैसे 'भुजबलि चरित' में लिखा है कि इसकी माता का नाम कलादेवी था। चामुण्डराय को एक-दो नहीं अपितु तीन शासकों के शासन काल में कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसके साथ ही इस बात के लिए भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि चामुण्डराय के बहुमूल्य जीवन का अधिकांश भाग गणों की राजधानी तलकाडु में ही व्यतीत हुआ था।

आचार्य अजितसेन के परमशिष्य, गंगुणसिंहचन्द्र, गंगा कुतूबनगर जगदेकवीर, धर्मावतार आदि धर्मार्थ उपाधियों से विभूषित राजमल्ल (न) इनके आश्रयदाता थे। जिन गंगवज का मुद्गुल राज्य मंगूर प्रान्त (य कर्नाटक प्रान्त) लगभग ईसा की चौथी शताब्दी में लेकर ग्यारहवीं तक बना रहा, राचमल्ल उमो गंगवज के मुनामक मारसिंह का उत्तराधि था। गंग नृपों के शासनकाल में वर्तमान कर्नाटक का बहुभारा उमो के अन्तर्भुक्त था, जो उस समय गंगायादि कहलाता था। गंगराज्य उस अपनी सर्वोत्कृष्ट दशा पर पहुँच गया था और प्रारम्भ से इस राज्य का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। श्रवणवेलगोला के लेग सं० ५४ (६७) गंगवंश की जड़ जमाने वाले जैनाचार्य सिंहनन्दो ही थे। 'गोमटसार' के रचयिता अभयचन्द्र त्रैविध्य चक्रवर्ती ने भी इसे स्वीकार किया है। साधुशासन के आधार पर मेजर राइस साहब का कहना है कि आचार्य पाद इसी वक्त के सातवें शासक दुर्बिनीत (ई० सन् ४७८-५१३) के थे। जैन धर्म के उपासकों में राचमल्ल का पूर्वाधिकारी गंगनरेश मारसिंह नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसने कई जैन मन्दिर तथा स्तम्भ निर्माण कराकर अन्त में अजितसेन भट्टारक के निकट समाधि मरण संकापूर में शरीरत्याग किया था।

चावुण्डराय उपर्युक्त राचमल्ल (चतुर्थ) का सुयोग्य सेनापति था। उक्त राचमल्ल के सुयोग्य शासन काल में ही वीरमातण्ड श्री चा ने विश्व-विख्यात श्री गोमटेश्वर मूर्ति को स्थापित की थी। चावुण्डराय की उपाधि भी इनके उक्त धार्मिक उदार कार्य से सन्तुष्ट होकर राच द्वारा ही दी गई थी, जो कि धर्मभूति चावुण्डराय के लिये सर्वथा उपयुक्त गोमटसार कर्मकाण्ड एवं जीवकाण्ड से आचार्य अजितसेन चावुण्डराय तथा उसकी टीका में ब्रतगुरु स्पष्ट सिद्ध होते हैं। यद्यपि चावुण्ड विद्याध्ययन के सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है तथा धनुमान तथाना मरल है कि इनका विद्याध्ययन किसी सुयोग्य गुरु के

१ त्रिविध गुण विद्यमान गंगपरदेवादिद्विभक्तान् ।

को परिचर्यमाना हो कालेन गुण अवत मो शब्दो ॥ ६६६ ॥

धनुःशत्रु मंगलुवकण मद्गुलु मपारिफलिप्रयमगुलु ।

दुःखगुलु मरुत गुलु मो शब्दो गोमटारा त्रयगु ॥ ७३३ ॥

ही हुआ होगा। यही कारण है कि वे शास्त्र, शास्त्र, एव शिल्प आदि सभी कलाओं में निष्णात थे। कुछ समयानन्तर आचार्य नेमिचन्द्र के निकट इनने अपने आध्यात्मिक ज्ञान को उन्नत बनाया था। नेमिचन्द्राचार्य ने स्वयं चावुण्डराय के गुणों की मुक्तकठ से प्रशंसा की है।^३

जिस प्रकार इनका बाल्यकाल अधकाराच्छन्न है, उसी प्रकार गृहस्थ-जीवन भी। इतना पता तो अवश्य लगता है कि इनकी सौभाग्यवती गृहणी का नाम अजितदेवी और पुत्र का नाम जिनदेव था। गगनरेशो का राजमन्त्री तथा सेना नायक जैसे उच्चपद पर चावुण्डराय का आसीन होना ही इनकी योग्यता का एक समुज्ज्वल निदर्शन है। वास्तव में चावुण्डराय अपने कुल के एक दंदिप्यमान रत्न थे। इसी कारण विद्वानो ने इसे 'ब्रह्म क्षत्र कुलमानु' 'ब्रह्मक्षत्रकुलमणि' आदि विशेषणो के द्वारा स्मरण किया है। शासनाधिकार-रूपी उच्चतम पद पर आरूढ होकर भी यह अपने नैतिकमार्ग से तिलभर भी कभी नहीं डिगा था। यही कारण है कि 'शौचाभरण' 'सत्यमुधिष्ठर' आदि गौरवपूर्ण उपाधियों में वे स्मरण किये गये हैं।

चावुण्डराय ने सेनापति जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद को बहुत ही योग्यता के साथ निर्वाहित किया है। यही कारण है कि इनने खेडग के युद्ध में वज्रलदेव को हराकर 'समर घुरन्धर' गोनूर के मैदान में मोलम्बों के समर में 'जगडेकवीर' को हराकर वीरमार्तण्ड, चउच्चगि के दुर्ग को हस्तगत कर रणरगसिग, बागेयूरु दुर्ग में त्रिभुवनवीर को मारकर गोविन्द को शास्त्र बनाने के उपलक्ष में 'वीरकुलकालदण्ड', नृपकाम के दुर्ग में राज, वास, इन्द्र एव कूणाक आदि शूरों पर विजय पाने के कारण 'भुजविभ्रम', अपने म्दन्ते नागवर्म को मारने वाले 'चलन्दकगग, गगकमट, मधुराचय को म्दन्ते के घाट उतारने के कारण 'समरपरशुराम' और अन्य वीरों को म्दन्ते से 'प्रतिपक्षराक्षस' तथा करोड़ो वीरभटों को पराभव करने के कारण 'प्रतिप्रचण्डवीरमाण्डलिक शिखण्डमण्डनमणि' होने 'मुमहृवृद्ध' के म्दन्ते

३ मिद्वन्दुदयइदुगयकिम्मलवरणेमिबन्द करकतिया ।

गुणरक्षणमुसगहुहिमहवेता मरउ मुवणयल ॥ ६६७ ॥ वमंशाय

४. चवणदेवगीन लेप नं० १०६ एव 'चावुण्डरायपुराण'



से भी यह विन्यास था था। वाग्भियन से चरम परा उपाधियों से चरम परा इन युग के एक अद्वितीय चोरनिरोधन मित्र ही हैं।

चोरमातंण्ड जिम प्रकार एक महान मेतापति से उमी प्रकार एक कुशल राजमन्त्री भी। इसके मन्त्रिण से गगराष्ट्र की अभूतपूर्व उन्नी हुई थी। तत्कालीन गग प्रजापति की अभिवृद्धि से चानुष्टराय के सुनामन का उबलन्त दृष्टान्त है। उस समय के उपाध्य अनेक भय मन्दिर, द्विती ही मनोज मूर्तिया आदि गगराष्ट्राभ्युदय की गायी हैं।

चोरमातंण्ड वन्द, मन्त्र एव पात के अन्त विद्वान् और रवि थे। इस समय इनके चारित्रमार (मन्त्र) और विपट्टिशरण महापुराण (कन्नड) नामक दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होत हैं। ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। आचार्य नेमिचन्द्र के कथनानुसार इनने गोम्मतमार पर एक कन्नड वृत्ति भी रची थी।

गोम्मतमुत्तलितहये गोम्मटरायेणजा कया देसी।

सो राओ चिरकालं कमेणय चोरमातडो ॥४॥

उपर्युक्त चारित्रसार एक संग्रह ग्रन्थ है। इसका विपट्टिशरण महापुराण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और यह १० वीं शताब्दी के कन्नड गद्य का एक समुज्ज्वल उदाहरण भी। कन्नड साहित्य में विपट्टिशरण पुरुषों का परिचय कराने वाला यही एक सर्व प्राचीन ग्रन्थ है। इसके साथ ही आज तक उपलब्ध कन्नड गद्य ग्रन्थों में यह चावुण्डराय पुराण आद्य गद्य ग्रन्थ माना है। मान्य होना है कि इन्हे पद्य की अपेक्षा गद्य लिखने की अधिक सुविधा थी, या अपने ग्रन्थों में निद्रिष्ट धर्मोपदेश को सर्वसाधारण तक सुगमता से पहुँचाने के लिए इन्होंने सरल गद्य में ग्रन्थरचना करना ही अपना प्रमुख ध्येय बना लिया था। कन्नड साहित्य को सुप्रसिद्ध मनीषी श्री गोविन्द वं के शब्दों में इनने जनप्रिय लेखक होना इष्ट था, न कि अपने को कवि प्रकट करने की मानना। कन्नड साहित्य में उपलब्ध चंपूग्रन्थों में इसकी रचनाशैली नितांत विशाल है। इसका वर्णनक्रम बिलकुल स्पष्ट और हृदयग्राही होने के साथ

साथ एक जन्मजात वीरयोद्धा के स्वभावानुसार ठीक अपने लक्ष्य को करने वाला है। सुकवि चावुण्डराय का 'कविजनशेखर' उपाधि भी

श्रीमान् गोविन्द पं इस ग्रन्थ के अन्तः परीक्षण द्वारा निम्न पर पहुँचे हैं "अतः कहना होगा कि इस रचनाकाल के अन्तराल में विविध रणक्षेत्रों में व्यस्त था और उसे ग्रन्थ रचना के लिए ही कम मिला था। एक योद्धा के जीवन में प्रवेश कर उसने इस धर्मग्रन्थ की रचना प्रारम्भ की थी और इसकी ही मालूम होता है, उसका योद्धा जीवन अन्त को पहुँच इसके (सन् ६७८ ई०) बाद उसको कोई नई विदित नहीं होता। राय की पदवी अवश्य इसके बाद एक धर्मकार्य के उपलक्ष्य में। सम्भव है, इस ग्रन्थ वर्ष से भी अधिक समय लगा हो। इसमें आश्चर्य की (Caesar's Commentaries) की तरह यह धारणों में लिखा गया है और मालूम होता है ने समस्त शत्रुओं को परास्त करके गंगराष्ट्र बहा दी थी।"

कवियों का वीरमार्तण्ड सच्चा महाकवि रत्न विद्याध्ययनार्थ अपने गंगराजधानी में पहुँचा उस समय तेजस्विता प्रादि गुणों को देखकर की पूरी व्यवस्था कर दी। चावुण्डराय एक प्रद्वितीय कवि निसर्ग ने सगर्व कर रहा है। यह कवि कविता में मुग्ध होकर ही की थी। अगर प्राज्ञ कर्नाटक को प्राप्त नहीं होता। यो अधिकांश भाग स्वाध्याय, संयम

ए स्व नेना ता। किन रया। ण्डराय उस से लान्तक' ही समय ह के पुत्र विपत्ति ने आश्रय जाता था, द्रुत दिनों चावुण्डराय से पता प्राश्चर्य में इस धान वीरतापूर्वक थी। श्रवणवेन- कि इन्हें 'रणसिग' १९१००० पर योवनक्षय में



हृष्ट थे। वीरमानेण्ड एक सच्चा, दृढ श्रद्धानु नैटिक श्रावक था। इसीलिए कहा गया है कि निम्नकादिगुणपरिग्रहार्थककारण ही "गुणवं कारं" "मध्यवृत्तरत्नाकर" एवं "गुणरत्नभूषण" ये उपाधियां इन्हीं से प्राप्त थीं। इतना ही नहीं अपितु यह श्रावक के अहिंसादि अणुप्रतों का पूर्ण परिपालक था। अतएव 'शौचाभरण' 'सत्ययुधिष्ठिर' आदि उपाधि से वह अलंकृत था। साथ ही साथ जनप्रिय होने से अण्ण (भ्राता) जैसे अत्युत्कृष्ट श्रद्धा सम्मानित नाम से भी पुकारा जाता था।

यह निमन्त्रेह है कि चावुण्डराय का अन्तिम जीवन विशिष्ट धर्ममेव के साथ व्यतीत हुआ होगा। आचार्य नेमिचन्द्र जैसे महान् विद्वान् का सम्पर्क हममें मुख्य कारण है। चावुण्डराय ने अपनी पवनयज्ञ को अमर बनाये रखने के लिए श्रवणबेलगोला जैसे प्रमुख एवं मुद्राचीन पुण्यतीर्थ चुनना उनकी बड़ी ही बुद्धिमत्ता का काम था। वास्तव में इसके द्वारा स्थापित उपर्युक्त गोम्भट मूर्ति में इस तीर्थ की महिमा और बृहत् है। इस दृष्टि में इसे इस पवित्र भूमि का उद्धारक कहना सर्वथा समुचित है। अद्यपर्यन्त यह क्षेत्र जनता के हृदयों में मगधे रहने का एक मात्र कारण उल्लिखित गोम्भटेश्वर मूर्ति ही है। अन्वया दक्षिण के कोषण आदि अन्वय प्राचीन क्षेत्रों के समान विद्वानों के लिए ही यह स्थान एक अन्वेषणीय वस्तु मात्र रह जाता। इस पुनीततीर्थ की अतिवृद्धि का मार्ग श्रेय शौरजिरोमाण चावुण्डराय की ही मितता चाट्टि।

श्री० बी० ए० मानेनारे चावुण्डराय के सम्बन्ध में कहते हैं कि 'श्रेय दक्षिण में चावुण्डराय का नाम स्थानाक्षरों में अंकित है। चावुण्डराय केवल शौर ही नहीं, यथा भाग्ये कवि भी था। चावुण्डरायपुराण उसी की रचित है। यह कर्नाटक का रहने वाला था। चावुण्डराय मगध के राजा मार्गमत् और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी रावमल्ल के दरबार में था। वह अपने को 'ब्रह्मभक्त' जानि वा बतलाया है। इसीलिए उसकी एक उपाधि ब्रह्मभक्त निम्नामनि भी है। एता अथवा है कि उसके गुण प्रसिद्ध अजितमेन थे। विहित नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का भी उस पर काफी प्रभाव पड़ा था। नेमिचन्द्र ने अर-रचित गोम्भटमार में चावुण्डराय की बड़ी प्रशंसा की है। अपने अन्तिम अन्त कवि विशानन्द ने भी अपनी रचना 'मुनिर्वशाभ्युदय' में चावुण्डराय का गुण बतलाया है... .."

जिस युग में चावुण्डराय हुआ था, वह गंगवंश के राजाओं के लिए कटकाकीर्ण था। वे चारों ओर से दुश्मनों से घिरे हुए थे। अपना अस्तित्व स्थिर रखने के लिए तथा अपनी उन्नति के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध करना पडा और इसमें सन्देह नहीं कि इन युद्धों का संचालक चावुण्डराय ही था। चावुण्डराय के समय में गंगराज मारसिंह पर नोलम्बों ने चढाई की, लेकिन गोनूर के मंदान में चावुण्डराय ने उनकी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। चावुण्डरायपुराण से पता चलता है कि इस वीरता के लिए चावुण्डराय 'वीरमार्तण्ड' की उपाधि से विभूषित किया गया। ब्रह्मदेव के स्तम्भ-लेख से मालूम होता है कि इस विजय के अवसर पर स्वयं मारसिंह ने 'नोलम्बकुलान्तक' की उपाधि धारण की थी।

दूसरा संकट पश्चिमी चालुक्यों की ओर से था। मारसिंह के ही समय में पश्चिमी चालुक्यों ने उपद्रव मचाना आरम्भ किया था। मारसिंह के पुत्र राचमल्ल के समय में चावुण्डराय ने राजादित्य को परास्त कर यह विपत्ति दूर की। कहा जाता है कि उच्चंगि के दुर्जय किले में राजादित्य ने आश्रय लिया था। जिस दुर्ग को जीतना एक प्रकार से असम्भव ही माना जाता था, कुछ समय पूर्व 'काडुवेदी' ने इस किले को घेर डाला था, पर बहुत दिनों तक घेरा डालने पर भी वह इसे बश में नहीं ला सका था। लेकिन चावुण्डराय के आगे इस दुर्ग की दुर्जयता न रह सकी। ब्रह्मदेव-स्तम्भ के लेख से पता चलता है कि चावुण्डराय ने इस किले को विध्वस्त कर संसार को आश्चर्य में डाला दिया। स्वयं चावुण्डराय की कृति चावुण्डराय पुराण से भी इस बात की पुष्टि होती है। वह लिखता है कि उच्चंगि के किले को वीरतापूर्वक हस्तगत करने के कारण उसे 'रणरंगसिंह' की उपाधि मिली थी। अरण्यवेल-गोला के 'त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ' के लेख से मालूम होना है कि इन्हें 'रणसिंह' राजादित्य की उपाधि थी। इस प्रकार चावुण्डराय ने शत्रु को परास्त कर उसी का उपाधि धारण की थी। स्वयं राचमल्ल ने भी इस विजयोपलक्ष्य में 'जगदेकवीर' की उपाधि ग्रहण की थी।

तीसरी घटना, जिसके कारण से चाणक्य ने 'समर-पुराण' की उपाधि पाई, मेडग का युद्ध है। इस युद्ध में उमने तज्जत को पराजित किया। इसका वृत्तान्त चाणक्यदशम पुराण में मिलता है। 'त्यागद ब्रह्मदेव-मन्त्र' लेख में भी इसका उल्लेख है। उक्त पुराण के अनुसार चाणक्य ने बालीक दुर्ग के त्रिभुवनवीर नामक एक मरदार को मारकर 'नेत्रिकुलकामदण्ड' की उपाधि पाई। इसके बाद राज, याम, गिर, कुणाल आदि मरदारों को सब नामक राजा के दुर्ग में मार कर 'ज्जतिरुम' की उपाधि प्राप्त की। मधुगन्ध ने जो 'चलदकगण' और 'मगभट' के नाम से भी प्रसिद्ध है, चाणक्य ने छोटे भाई, नागवर्मा को मार डाला था।

चाणक्य ने उसे मार कर अपने भाई की मृत्यु का बदला चुकाया। त्यागद ब्रह्मदेवस्तम्भ लेख में मान्य है कि चलदकगण ने गगराज मिहसन पर अधिकार जमाना चाहा था। चाणक्य ने उसके प्रयास को निरूपण करके उसका नाश किया और इस तरह अपना बदला भी चुका लिया। इस सफलता पर उसे 'समरपरशुराम' की उपाधि मिली। उक्त पुराण से ही यह भी पता चलता है कि अन्य कई वीरों पर विजय पाने के कारण उसे 'प्रतिपक्षराक्षस' की उपाधि मिली थी। इन उपाधियों के अतिरिक्त वह 'भटमारि' और 'मुभटचूडामणि' की उपाधियों से भी भूषित किया गया था।

चाणक्य ने जैनधर्म के विकास के लिए अनेक प्रयास किये। गोमतेदवर मूर्ति की स्थापना जैसा उनका एक कार्य ही उनकी जैनधर्म की प्रति सर्वाधिक श्रद्धा का सूचक है। यह मूर्ति संसार का एक आश्चर्य है और चिरकाल तक आश्चर्य ही बना रहेगा।

वीर चाणक्य केवल सेनापति, मन्त्री एवं उच्च प्रबन्धक ही नहीं किन्तु जैनदर्शन के महान् ज्ञाता, साहित्यसेवी तथा विद्वान् भी थे। युद्ध क्षेत्र शासन के कंठकलीर्ण मार्गों तथा सेना संचालन के अतिरिक्त उन्हें जो समय मिलता उसे वे स्वाध्याय, मनन एवं चिन्तन में व्यतीत करते। आचार्य साहित्य निर्माताओं तथा मरुस्वती के वरद पुत्रों के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा थी। वे अपने मातृ भाषा कन्नड के साथ साथ मरुस्वती के भी प्रकाण्ड विद्वान्

ये और इन दोनों ही भाषाओं में अधिकार पूर्वक कविता एवं लेखन कार्य करते थे ।

समय—

चावुण्डराय ने अपने “चावुण्डराय पुराण” को शक सं० ६०० (ई० सं० ६७८) में पूर्ण किया था । इसके रचना के पश्चात् उन्होंने धवण-वेलगोला में बाहुवलि स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा ई० सन् ६८१ में सम्पन्न की थी । गोम्टेस्वर की मूर्ति के समीप ही द्वारपाली की वायी और सन् ११८० का लेख है जो इस बात का द्योतक है कि उस समय तक तो गोम्टेस्वर की इस मूर्ति का यश देन के प्रत्येक भाग में फैल गया था और मूर्ति के प्रतिष्ठापक के रूप में चावुण्डराय जन जन की श्रद्धा के केन्द्र बन चुके थे । इसलिये चावुण्डराय का समय १० वीं शताब्दि का है ।

कृतियाँ—

चावुण्डराय की संस्कृत भाषा की दो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं । एक चावुण्डराय पुराण तथा दूसरी कृति चरित्रसार है । चावुण्डराय पुराण का दुमरा नाम त्रिपट्टि पुराण अथवा त्रिपट्टि सप्तम महापुराण भी है । यह ग्रन्थ कन्नड गद्य का सबसे प्रथम ग्रन्थ है । इसमें ६३ शलाका पुराणों की कथा निबद्ध की गयी है तथा कथा के माप ही में आचार एवं दर्शन के सिद्धान्तों का भी वर्णन मिलता है । उक्त कृति के अतिरिक्त इन्होंने अपने गुण आचार्य नेमिचन्द्र के गोम्टमार पर भी कन्नड भाषा में टीका लिखी थी जिसका उल्लेख गोम्टसार की भाषा मग्या ६६५ से ६७२ में दिया गया है ।

चावुण्डराय की दूसरी कृति चरित्रसार है जिसमें आचार शास्त्र का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है । इसका दुमरा नाम भावनामार संघर्ष भी मिलता है । यह संस्कृत गद्य में निर्मित है इस दृष्टि से यह एक उत्सृग्नीय रचना है । कृति के प्रारम्भ तथा अन्त में वही पर भी रचनाकार का उल्लेख नहीं किया गया है । किन्तु सम्भवतः इस रचना को चावुण्डराय ने अपने महा-पुराण की समाप्ति के पश्चात् निबद्ध की थी । चावुण्डराय जैन धर्म के दृढ़ श्रद्धालु थे । पुराणियों द्वारा प्रतिपादित आचार शास्त्र का वे पूर्ण अनुसरण थे ।

जो पूजा की जाती है उसे कल्पवृक्ष पूजा कहते हैं। नन्दीश्वर द्वीप के दिनों जो पूजा की जाती है उसे अष्टाह्निका पूजा कहते हैं। इन्द्र प्रतिन्द्र द्वारा जो पूजा की जाती है उसे ऐन्द्रध्वज पूजा कहते हैं। इसी तरह अग्नि, मत्सि, कृपि, वाणिज्य आदि शिल्प कर्मों के द्वारा अपनी शुद्ध प्रवृत्ति रख कर धन उपाजित करना वार्ता है। दान देने को दत्ति कहते हैं। वह चार प्रकार की है—दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और सकलदत्ति।

आर्यों के जो छह कर्म हैं उनमें तत्पर रहने वाले गृहस्थ कहलाते हैं। वे दो प्रकार के हैं—जाति क्षत्रिय और तीर्थ क्षत्रिय जाति क्षत्रिय के चार भेद हैं—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और सूद्र। अपनी जीविका के भेद से तीर्थ क्षत्रिय अनेक प्रकार के हैं—वानप्रस्थ और भिक्षुक। भिक्षुक के फिर चार भेद किये गये हैं—अनगार, यति, मुनि और ऋषि। ऋषि के भी राजर्षि ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि ये चार भेद हैं। केवलजानी परमर्षि कहलाते हैं। इसके पश्चात् सत्लेखना का रोचक वर्णन हुआ है और इसी के साथ प्रथम प्रकरण समाप्त होता है। मुनि धर्म के वर्णन में सर्व प्रथम दर्शन विशुद्धिषोडश भावनाओं का वर्णन किया गया है। इन भावनाओं में चतुर्थ गुणस्थान से आठवे गुणस्थान तक तीर्थकर प्रकृति का बध हो सकता है। इसके पश्चात् दश धर्मों का वर्णन हुआ है। संयम वर्णन के प्रसंग में मुनियों को अहारदेने वाला श्रावक, १६ उद्गम दोष, १६ उत्पादन दोष, आहार के चार विशेष दोषों, विस्तृत वर्णन हुआ है। आठ प्रकार की शुद्धियों के परिपालन से आत्मा निर्मल होती है। ये आठ शुद्धि हैं— भाव शुद्धि, काय शुद्धि, विनय शुद्धि, ईर्ष्यापथ शुद्धि, भिक्षा शुद्धि, प्रतिष्ठापना शुद्धि, शयनासन शुद्धि, वाक्य शुद्धि।

संयम के पांच भेदों— सामायिक, छेदोपस्वपना, परिहारविशुद्धि मूढम-साम्पराय, यथाख्यात चरित्र का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके आगे पांच महाव्रतों की भावनाओं का कथन किया गया है। संयमी तपस्वी अथवा मुनि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रक्षा करने के लिये २५ प्रकार की परिपहों को सहन करता है। चारित्रसार में एक एक परिपह का अर्च्छा वर्णन दिया है। तप दो प्रकार के है—एक बाह्य तप और दूसरा भ्रम्यन्तर

कृतियों का ही अधिक सम्मान होता था लेकिन विद्वान् कृतिकार ने चारित्र्य जैसे विषय पर गद्य में लिखकर अपनी विद्वत्ता का ही परिचय नहीं दिया किन्तु ऐसे गूढ़ विषय को गद्य में लिखकर उसे लोकप्रियता प्राप्त करने में और भी जन सहयोग मिला। कवि द्वारा गद्य में भी विषय का प्रतिपादन करने पर भी वह सरल एवं सरस दोनों है। क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से कवि ने अपने आपको बचाया है।

चारित्र्य सार के पश्चात् सम्पादक ने मुलतान नगर निवासी बुलानी टाकुर की एक महत्वपूर्ण चिट्ठी तथा नागौर के भट्टारक की पट्टावली साथ में प्रकाशित कर महत्वपूर्ण कार्य किया है। दोनों ही पाठ ऐतिहासिक हैं और कितने ही तथ्यों को उद्धरित करने वाले हैं। नागौर की भट्टारक गादी स्थापित करने के क्या क्या कारण थे तथा नागौर गादी की सीमा किस प्रकार निर्धारित की गयी इसका भी पट्टावली में उल्लेख किया गया है। यह पट्टावली नागौर पट्ट के अन्तिम भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति जी तक पूर्ण है।

हिन्दी गद्यानुवाद — प्रस्तुत कृति का हिन्दी गद्यानुवाद पूज्य विवेक-मागरजी महाराज ने विद्वत्ता पूर्वक किया है। मूल गद्य भाग के अनुवाद के साथ ही उन्होंने टीका को और भी विस्तृत बना कर विषय का विशद विवेचन किया है। यही नहीं उन्होंने समयसमय, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, गोम्भटसार, सागारधर्मामृत, मूलाचार, मूलाचार प्रदीप जैसे ग्रन्थों से गाथाएँ एवं श्लोकों को उद्धृत करके अपने गहन स्वाध्याय का ही परिचय नहीं दिया किन्तु विषय का भी सुन्दर प्रतिपादन किया है। भाषा बहुत ही सुन्दर एवं सरस है। मुनि श्री स्वाध्याय शील माधु है तथा संस्कृत एवं हिन्दी के अच्छे विद्वान् हैं तथा प्राचीन एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन की ओर उनका पूरा ध्यान है। चारित्र्यसार जैसे दुर्लभ ग्रन्थ का सफल हिन्दी अनुवाद उनकी इसी विद्वत्ता का परिणाम है। आशा है भविष्य में भी वे इसी तरह

ग्रन्थों के सम्पादन की ओर सतत प्रयत्नशील रहेंगे जिससे हमारा विपुल साहित्य प्रकाश में आ सकेगा ।

प० सतीशचन्द्रजी पाटनी साहित्यिक रूचि वाले विद्वान् हैं । नागौरके भट्टारकीय शास्त्र भण्डार की ग्रन्थ सूची बनाने का भी उन्होंने कार्य किया है । पाटनीजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ का तीन प्रतियों के आधार पर सम्पादन किया है तथा इसका पूर्ण रीडिंग आदि सभी कार्य उन्होंने किया है । उनके अत्यधिक परिश्रम से यह ग्रन्थ और भी उपादेय एवं व्याख्याय योग्य बन गया है । ग्रन्थ के सुन्दर सम्पादन के लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद ।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के प्रकाशित करने हेतु दिगम्बर जैन समाज, सीकर की यह साहित्यिक सेवा अत्यधिक प्रशंसनीय है तथा अन्य नगरों एवं गांवों की समाजों के लिये यह अनुकरणीय भी है । आशा है सीकर की दिगम्बर जैन समाज एवं विशेषतः श्री केशरीमलजी दीवान एवं भवरलालजी सेठी जैसे महानुभाव साहित्य प्रकाशन की ओर सतत प्रयत्नशील रहेंगे ।

—डा० फस्तूरचंद कासलीवाल



मुनी भी विवेक सागरजी महाराज

चुकते बाद में तो आपके और भी विशेष रूप में उत्तरोत्तर वैराग्यमयी भावनाओं ने हृदय में अपना स्थान दृढ़ता के साथ कर लिया। इसके परिणाम स्वरूप आपने श्री १०८ मुनिराज आर्यनन्दि महाराज के चरणारविन्द में आज्ञाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करली।

इतनी कठोर ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने पर भी आपको आराम में शान्ति अनुभव नहीं हुई और वैराग्यमय विचार मन में वृद्धिगत होते ही गये। इसके परिणाम स्वरूप गृहस्थ नाम श्री लक्ष्मीनारायणजी ने अपना धन धान्य समृद्ध भरा पूरा घर पुत्र, पुत्रिया, माता, पिता, पत्नि आदि क्षणभंगुर नश्वर सासारिक सुख को नृणवत् ममभक्त और श्री शुभ मिति आश्विन (आमोज) कृष्णा ३ (तीज) विक्रम संवत् २०२५ के दिन इस कौटुम्बिक घर को त्याग कर अपने असली स्वगृह (मोक्ष) की प्राप्ति हेतु गृहस्थावस्था से निवृत्त कर चारित्र्य चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री जानसागरजी महाराज के सघ में आगये।

पूर्व अशुभ कर्मों के कारण से आचार्य श्री के सघ में आने पर परीक्षा स्वरूप मलेरिया ज्वर, आब और रक्त के दस्त तथा कफ खांसी आदि बीमारियों ने लगातार तीन मास तक भीषण युद्ध लड़ते रहे किन्तु अपने स्वकीय लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। इतनी कठोर यातनाओं के पहाड़ आकर टूट जाने पर भी पुनः आपने गृहस्थाश्रम की ओर मुँह नहीं मोड़ा एवम् अत्यन्त क्षीण शरीरावस्था में भी कठोर तप अनोपवासादि करके आत्मबल को बढ़ाने ही गये। अन्त में केवल दो मास की अवधि में ही आपने सप्तम प्रतिमा से निर्दग्धावस्था योग्य अपने आपको बना लिया।

इस प्रकार सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक श्री लक्ष्मीनारायणजी सघ में आने के पश्चात् केवल पाँच मास में ही अपने उग्र तप एवं कठोर आचरण से साक्षात्कीर्ण निर्दग्धावस्था (मृत्पद) श्री आचार्य १०८ श्री जानसागरजी (गृहस्थावस्था का नाम श्रीमान् पण्डित भूरावलजी) से विधिवत् महाव्रती



卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

卐 चारित्र धर्म प्रकाश 卐

(प्रथम खण्ड)

卐

✽ मङ्गलाचरण ✽

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद् गुणलब्धये ॥

मोक्ष की राह बतावत जे, अरु कर्म पहाड़ करे चक घूरा ।
विश्व सु-तत्त्व के ज्ञायक हें, ताहि लब्धि के हेत नमो पर पूरा ॥

अर्थ:- मोक्ष मार्ग के नेता कर्मरूपी पर्वतों के भेत्ता (भेदने वाले) ससार के तत्त्वों को जानने वाले श्री अर्हन्त भगवान् को मैं (मुनि विवेक सागर) वर्तमान युग के शासन नायक श्री १००८ श्री महावीरस्वामी को प्रत्येक कार्य की आदि में स्मरण करना अत्यावश्यक समझता हूँ जिन्होंने ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है तथा जिनका ज्ञान अलोकाकाश सहित तीनों लोकों को दर्पण के समान प्रकाशित करता है, उन वीर प्रभु को साष्टाङ्ग वारम्बार नमस्कार कर पूर्वाचार्यों की कृतियों के प्रकाशन की सद्भावना करता हूँ एवं देवाधिदेव श्री १००८ वर्धमान भगवान् के समान ही उनके गुणों की प्राप्ति के लिये स्तवन (स्तुति) करता हूँ ।

विहार करते हुए माधोराजपुरा से सांगानेर, नांवा, कुचामन सिटी, कुकनवाली, मारोठ, पांचवा आदि स्थानों पर धर्म विद्यामुषों को अमृत पान कराते हुए चाय, मिगरेट, निदि भोजन आदि जनता में फैले हुए दुर्धर्मसनों का त्याग भी अनेक स्थानों पर पूज्य श्री की सद् प्रेरणा मे ही हुवा । तृतीय चातुर्मास स० २००८ में "महज भुज माघन" ग्रन्थ का जनहितार्थ प्रकाशन कराकर समाज को सत्य मार्ग का दिग्दर्शन कराया ।

अनेक स्थानो पर विहार करते हुए स० २०२६ में कुचामन सिटी में चतुर्थ चातुर्मास करके "धर्म ध्यान प्रकाश" सामयिक आलोचनात्मक ग्रन्थ का प्रकाशन करके जनता के अज्ञानान्धकार को दूर करने को प्रयत्न किया ।

तत्पश्चात् स० २०३० मे मारोठ ग्राम के पंचम चातुर्मास काल में "शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश" प्रकाशित कराया और षष्ठम चातुर्मास वर्तमान स० २०३१ में सोकर में स्थापित करके भ० महावीर के २५०० वें निर्वाणोत्सव के उपलक्ष में ११ वीं सदी के आचारानुसार 'चारित्र्यसार ग्रन्थ पर 'चारित्र्य धर्म प्रकाश' प्रकाशित कराने में संलग्न है ।

—पं० सतीश चन्द्र पाटणी, शास्त्री

माहित्य रत्न
सम्पादक



卐 श्री बीतरामाय नमः 卐

卐 चारित्र धर्म प्रकाश 卐

(मथुरा खण्ड)

卐

✽ मङ्गलाचरण ✽

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद् गुणलब्धये ॥

मोक्ष की राह बतावत जे, अरु कर्म पहाड़ करे चक चूरा ।
विश्व सु-तत्त्व के ज्ञायक हं, ताहि लब्धि के हेत नमो पर पूरा ॥

अर्थ:- मोक्ष मार्ग के नेता कर्मरूपी पर्वतों के भेत्ता (भेदने वाले) संसार के तत्त्वों को जानने वाले श्री अर्हन्त भगवान् को मैं (मुनि विवेक सागर) वर्तमान युग के शासन नायक श्री १००८ श्री महावीरस्वामी को प्रत्येक कार्य की आदि में स्मरण करना अत्यावश्यक समझता हूँ जिन्होंने ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है तथा जिनका ज्ञान अलोकाकाश सहित तीनों लोकों को दर्पण के समान प्रकाशित करता है, उन वीर प्रभु को साष्टाङ्ग वारम्बार नमस्कार कर पूर्वाचार्यों की कृतियों के प्रकाशन की सद्भावना करता हूँ एवं देवाधिदेव श्री १००८ वर्षमान भगवान् के समान ही उनके गुणों की प्राप्ति के लिये स्तवन (स्तुति) करता हूँ ।

॥ श्री गंगोज्ज्वलनापी नमस्सर्वम् ॥

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ जय जय जय, नमोस्तु! नमोस्तु!! नमोस्तु!!!

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं,
णमो ब्राह्मरीयाणं, णमो उवज्झायाणं,
णमो लोए सव्वसाहूणं ।

श्रीकार विन्दुमयुक्त, निन्य ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षद चंच, श्रीकाराय नमो नम ॥१॥
अविरलशब्दघनीघप्रक्षालितमकलभूतलमलकलका ।
मुनिभिरुपामिततीर्था मरस्वती हरतु नो दुर्गितान् ॥२॥
अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरुवे नम ॥३॥

॥ श्री परमगुरुवे नमः परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

सकलकलुपविध्वंसक, श्रेयसा परिवर्द्धक, धर्ममन्वन्धक, भव्यजीवमन.
प्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्री चारित्रधर्मं प्रकाश, चारित्रमार नामधेय,
अस्य मूलग्रन्थकर्तार. श्रीसर्वजदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार श्रीगणधरदेवाः
प्रतिगणधरदेवास्तेषा वचनानुसारमासाद्य श्री आचार्य चामुण्डरायदेवेन
विरचित, सर्वे श्रीतार सावधानतया शृण्वन्तु ।

मङ्गल भगवान् वीरो, मङ्गल गीतमो गणी,
मङ्गल कुन्दकुन्दाया जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥१॥



शवक

धर्म

धर्मः सर्वसुखाकरोहितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते,
 धर्मोऽथैवसमाप्यते शिवसुगुं धर्माय तस्मी नमः ।
 धर्मात्रास्त्यपरः सुहृद्भवमृतां धर्मस्य भूलं दया,
 धर्मो चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मां पालय ॥

अर्थ :- इन मन्त्र में धर्म ही सब गुणों का रजाना है और धर्म ही सब का हित करने वाला है। इस धर्म को विद्वज्जन भी पारण करने हैं एवं वृद्धि करने हैं। इस धर्म में ही मोक्ष गुण प्राप्त होता है, इसलिये इस धर्म में नमस्कार करना है। मरगो जीवों को धर्म के गिवाय और कोई भित्र नहीं है। इस धर्म को जड़ दया है, इसलिये मैं अपना मन प्रतिदिन धर्म में ही व्यतीत करता हूँ। हे धर्म मेरी रक्षा कर।

सम्यग्दर्शनस्य पञ्चाणुग्रतानां च वर्णनम् ।

अर्थ :- सम्यग्दर्शन और पञ्चाणुग्रतों का वर्णन करते हैं।

सम्यग्दृष्टिनां चत्वारो वंदनाप्रधानमृताः, अहन्तः सिद्धाः साधवो
 धर्मश्चेति । तत्रार्हत्सिद्धसाधवो नमस्कारेणोक्ताः, धर्म उच्यते
 आत्मानमिष्ट-नरेन्द्रसुरेन्द्रमुनीन्द्रमुक्तिस्याने घत्त इति धर्मः
 अथवा संसारस्यान् प्राणिनो धरते धारयतीति वाधर्मः स च सागा-
 राऽनगार विषयभेदाद् द्विविधः तत्र सागारधर्म उच्यते ।

सम्यग्दर्शन और पञ्चाणुग्रतों का वर्णन :-

अर्थ :- सम्यग्दृष्टियों के लिये मुख्य रूप से नमस्कार करने योग्य चार हैं; अरहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म। इनमें से अरहन्त, सिद्ध और साधु को नमस्कार रूप से कह दिये गये हैं।

धर्म का स्वरूप :-

जो इस आत्मा को सबसे इष्ट (प्रिय) ऐसे नरेन्द्र, सुरेन्द्र, मुनीन्द्र और मोक्ष पद को प्राप्त करादेवे उसे धर्म कहते हैं अथवा संसारी प्राणियों को उत्तम म्यान में पहुँचादेवे उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म गृहस्थ और मुनियों के दो प्रकार का है; उनमें से पहले गृहस्थ धर्म का वर्णन करते हैं।

दार्शनिकव्रतिकावपि सामायिकं प्रोपधोपवासश्च ।
 सचित्त रात्रिभुक्ति निरतो व्रत ब्रह्मचारी च ॥
 आरम्भाद्विनिवृत्तः परिग्रहादनुमतेस्तयोद्विष्टः ।
 इत्येकादशानितया जिनोदिताः श्रावकाः क्रमशः ॥

गृहस्थपद के ग्यारह भेद :-

अर्थ :- (१) दार्शनिक (२) व्रती (३) सामयिक (४) प्रोपधोपवाम
 (५) सचित्तविरत (६) रात्रिभुक्तित्याग (७) ब्रह्मचारी (८) आरम्भ-
 त्यागी (९) परिग्रहत्यागी (१०) अनुमतित्यागी और (११) उद्विष्टत्यागी
 इस प्रकार मे श्री जिनेन्द्रदेवने अनुक्रम से इन ग्यारह स्थानों में रहने वाले
 ग्यारह प्रकार के श्रावक बतलाये हैं ।

व्रतादयोगुणादर्शनादिभिः पूर्वगुणैः सह क्रमप्रवृद्धा भवन्ति ।

अर्थ :- इन श्रावकों के ये व्रतादिक गुण सम्यग्दर्शनादि अपने पहले के गुणों
 के साथ अनुक्रम से बढ़ते रहते हैं ।

दर्शनप्रतिमा का लक्षण :-

तत्रदार्शनिकः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पञ्चगुरुचरणभक्तः
 सम्यग्दर्शनविशुद्धश्च भवति । जिनेनभगवताऽहंता परमेष्ठिनोयद्विष्टे
 निग्रन्थलक्षणे मोक्षमार्गे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । तस्य सम्यग्दर्शनस्य-
 मोक्षपुरपथिक पायेयस्य भुक्तिसुन्दरोविलास मणिदर्पणस्य संसार
 समुद्र गतवर्त्तमग्नजनदत्तहस्तावलंबनस्यैकादशोपाशकस्यानप्राप्ता-
 दाधिष्ठानस्योत्तमक्षमादिदशकुलधर्मपादपमूलस्यपरमपावनस्यसकल-
 मङ्गलनिलयस्यमोक्षमुख्यकारणस्याष्टाङ्गानि भवन्ति ।

अर्थ :- दर्शन प्रतिमावालाजीव संसार शरीर और भोगों से विरक्त रहता
 है । पाँचोंपरमेष्ठियों के चरण कमलों का भक्त रहता है और सम्यग्दर्शन मे
 विगुह रहता है ।

श्री भगवान् भरतुं परमेष्ठी :-

ऊसमें श्रद्धान रगना गम्यदर्शन कहलाता है । पर गम्यदर्शन मोक्ष नगर में जाने वाले पथिक के लिये मार्ग में गाने पीने व काम जाने योग्य पथिक (नास्ता) है । मुक्तिरूपी गुन्दर स्त्री के शृङ्गार करने के लिये मणियों का बना हुआ दर्पण है । समार महामागर स्त्री कूप (कुवा) में डूबे डूबे मनुष्य के लिये दिये हुए हाथ का सहारा है । श्रावणों के ध्यान स्थान अथवा प्रतिमा रूपी राजमहल की नीव है । उत्तम क्षमादि दण्डधर्म स्त्री कल्याण की जड़ है । समस्त मङ्गल द्रव्यों का स्थान है और मोक्ष का मुख्य कारण है ।

इस सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं ।

निःशङ्कितत्वं निःकांक्षतानिविचिकित्सा अमूढदृष्टित्वं उपवृ-
हणं स्थितिकरणं वात्सल्यं प्रभावना चंति ।

- अर्थ:- (१) निराङ्कित (२) नि काक्षित (३) निविचिकित्सा (४) अमूढदृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सन्य और (८) प्रभावना अङ्ग ये सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं ।

(१) निःशङ्कित अङ्ग का लक्षण:-

तत्रेहलोकः परलोकः व्याधिर्मरणं अगुप्तिः अत्राणं आकस्मिक-
इति सप्तविधाद्भयाद्विनिर्मुक्तता अथवाहं दुपविष्टद्वादशाङ्ग प्रवचन
गहने एकमक्षरं पदं वा किमिदं स्याद्वा न वेति शङ्कानिरासो निशंकि-
तत्त्वम् ।

अर्थ:- इहलोकभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरणभय, अगुप्तिभय, अत्राणा-
भय और आकस्मिकभय से रहित होना अथवा
भगवान् परमेश्वर के आदेशानुसार प्रवचन में एक
पद के बिना शङ्का न होना ही सम्यग्दर्शन
का लक्षण है ।

सम्मच्छिद्री जीवा णिस्संका होंति णिब्बमया तेण ।
सत्तभयं विप्पमुक्का जह्मा तह्मा दुणिस्संका ॥

[गाय २२ समयसार]

अर्थ :- सम्यग्दृष्टि जीव निःपादक होते हैं अर्थात् निर्भय रहते हैं और सप्त भय से रहित होने के कारण कदाचित् भी सम्यग्दर्शन से किसी के चिगाने से भी नहीं चिगते हैं ।

इस भव भय परलोक भय मरण वेदना जास ।

अनरक्षा अनगुप्तिभय अकस्मात् भय सात ॥४८॥

[नाटक समयसार]

अर्थ :- सम्यग्दृष्टि सात भय से रहित होता है; वह निर्भय होकर जगत् में विचरण करता है । मिथ्यादृष्टि इन सातों भयों से सदा आश्रान्त रहता है; उसकी आकुलता कभी नष्ट नहीं होती; वह इस लोक परलोक आदि की चिन्ता से सदा चिन्तित रहता है । इन सात भय का सक्षिप्त रूप यह है:-

(१) इहलोक भय :- इस भव में मेरे इष्ट का वियोग व अनिष्ट का संयोग न हो, मैं सदा धनवान बना रहूँ कभी दरिद्री नहीं होऊँ ऐसी चिन्ताओं से असित रहना अथवा यदि मेरा वैभव नष्ट हो जावेगा तो कैसे जीऊँगा इत्यादि विचारों का भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होता क्योंकि वह वस्तु स्वरूप का ज्ञाता होने से शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है; उससे मेरी आत्मा को कोई भी हानि नहीं, ऐसा-दृढ़ श्रद्धान रखता है ।

सम्यग्दृष्टि लौकिक भय न रख कर न्याय - पूर्वक योग्य आचरण का व्यवहार करता है ।

(२) परलोक भय :- मिथ्यादृष्टि ही कर्मजनित दुखों से घबराता है, सम्यग्दृष्टि को सामारिक मुख दुखों में राग-द्वेष करने से अपना अहित समझकर भय नहीं लगता कि मेरा परलोक में क्या हाल होगा, मैं कहां जाकर जन्म लूँगा और किस २ प्रकार के सुख-दुख भोगने पड़ेंगे, न मालूम मुझे कैसे २ सम्बन्धी किस २ रूप में मिलेंगे ?

श्री भगवान् अरहंत परमेष्ठी :-

ऊसमें धृष्टान रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है। वह सम्यग्दर्शन मोक्ष नगर में जाने वाले पथिक के लिये मार्ग में खाने पीने व काम आने योग्य पापों (नाशता) है। मुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री के शृङ्गार करने के लिये मणियों का बना हुआ दर्पण है। ससार महासागर रूपी कूप (कुवा) में डूबे हुये मनुष्य के लिये दिये हुए हाथ का सहारा है। श्रावकों के ग्यारह स्थान अथवा प्रविश रूपी राजमहल की नींव है। उत्तम क्षमादि दशधर्म रूपी कल्पवृक्ष की जड़ है। समस्त मङ्गल द्रव्यों का स्थान है और मोक्ष का मुख्य कारण है।

इस सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं।

निःशङ्कितत्वं निःकांक्षतानिर्विचिकित्सा अभूढदृष्टित्वं उपवृहणं स्थितिकरणं वात्सल्यं प्रभावना चेति ।

अर्थ:- (१) निःशङ्कित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्सा (४) अभूढदृष्टि (५) उपवृहण (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य (८) प्रभावना अङ्ग ये सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं।

(१) निःशङ्कित अङ्ग का लक्षण:-

तत्रेहलोकः परलोकः व्याधिभयं अगुप्तिः शत्राणं आकस्मिक इति सप्तविधाद्भयाद्विनिर्मुक्तता अथवाहं दुपदिष्टद्वादशाङ्ग प्रवचन गहने एकमक्षरं पदं वा किमिदं स्याद्वा न वेति शङ्कानिरासो निःशङ्कितत्वम् ।

अर्थ:- दृष्टान्तभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरणभय, अगुप्तिभय, शत्रुभय और आकस्मिकभय - इन आठों प्रकार के भय से रहित होना अथवा भगवान् परमेश्वर के कटे हुए अत्यन्त गहन तंसे द्वादशाङ्ग शास्त्र में एक पद के लिये यत्र है या नहीं तैसी शङ्का न होना ही सम्यग्दर्शन का सर्व प्रथम निःशङ्कित अङ्ग है।

(५) अगुप्तिभय :- जिस भूमिपति (राजा) आदि के पास दृढ़ किला आदि न हो तो वह डरता रहता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि ऐसा विचारता है कि मेरे कोट, किला, खाई आदि नहीं है तो इससे मेरी कोई भी हानि नहीं क्योंकि मैं सत् स्वरूप आदि अन्त रहित चैतन्य रूप हूँ और रूप रस, गन्ध स्पर्श रहित होने से संसारी जीवों की दृष्टि में दृष्टिगत नहीं होने वाला हूँ। मुझे तो केवल ज्ञानी ही देख सकते हैं, फिर मैं एक ऐसा द्रव्य हूँ कि मेरा कभी भी नाश नहीं हो सकता। मैं अगुप्ति का भय क्यों कहूँ ? यदि भय कहूँगा तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में अन्तर ही क्या रहेगा ? ऐसा भय करने से तो सम्यक्त्व को दूषण लगता है। अतः अगुप्ति भय करना मुझ को अयोग्य है। मुझे मेरा स्वरूप समझना चाहिये। मेरे स्वरूप की गुप्ति (रक्षण) तो स्वयं ही हो रही है इसके लिये डरने की जरूरत नहीं है, ऐसे विचारों से इस अगुप्ति भय को जीतना चाहिये।

(६) अरक्षा भय :- मिथ्यादृष्टि सोचता है कि मेरा कोई रक्षक नहीं है। हाय ! मुझे कोई दुःख से बचाने वाला नहीं है। मैं किसके शरण जाऊँ ? परन्तु सम्यग्दृष्टि विचारता है कि पदार्थ की सत्ता का कभी नाश नहीं होता, अतः किसी के द्वारा मेरे शरीर का रक्षण न होने पर भी निज आत्मा का नाश नहीं होता, फिर हाय ! मेरी रक्षा करने वाला नहीं है ऐसा भय क्यों कहूँ ? शरीर का नाश होना तो अवश्यम्भावी है, उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है, यह विचार कर वह इस अरक्षाभय से विजय प्राप्त करता है।

(७) अकस्मात् भय :- आकस्मिक घटनाओं से डरना, उनका खयाल (विचार) करके भय भीत रहना। जैसे विजली गिरने में व भूकम्प होने में, अग्नि लगने, में एवं वाढ आने आदि से डरते रहना, सम्यग्दृष्टि ऐसे भय के विषय में विचारता है कि ये मेरा क्या कर सकते हैं ? क्यों कि सिद्धान्त में ऐसा कहा है कि किसी वस्तु का अन्य कोई वस्तु कुछ भी नहीं विगाड़ सकती; सम्पूर्ण द्रव्य अपने २ गुण पर्यायों में स्वतंत्ररूप से बने रहते हैं, फिर अकस्मात् भय आकर मेरा क्या विगाड़ कर सकता है। श्री जितेन्द्र भगवान के ज्ञान में जो कुछ भी भूलका है उसको भेटने के लिये इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि की भी सामर्थ्य नहीं है तो फिर अन्य सामान्य मनुष्य की तो क्या बात है ?

सम्यक्दृष्टि को यह भय नहीं होगा कि मैं नरकादि में गना जाऊँ
तो क्या होगा ? यह निर्भय रहकर अपना कर्तव्य मार्ग के मार्ग पार
करता है ।

(३) व्याधिभय (वेदना भय):- शरीर में वातपित्तादिक के प्रकोप
ज्वरादि रोगों का होना "वेदना" कहलाती है । रोग होने के पहले में ही ऐसी
चिन्ता करना कि मैं बीमार न हो जाऊँ, बीमार होने पर यह चिन्ता कल
कि मैं कब निरोग होऊँगा ? इत्यादि वेदना भय कहलाता है ।

सम्यक्दृष्टि विचारता है कि ज्ञान, दर्शन, स्वभाव का धारक होने
में तो निज स्वरूप का ही अनुभव करने वाला हूँ । परकर्म जनित रोगादिक
में क्यों घबराऊँ; रोग तो शरीर में होता है किन्तु शरीर मेरा कहाँ है ? पर
जड़ है, मैं तो चेतन स्वरूप हूँ, रोगादिक तो मेरे स्वरूप से भिन्न ही है अतः
मैं उनका विचार ही क्यों करूँ ? मैं तो मच्चिदानन्द स्वरूप हूँ; ऐसा विचार
कर वेदना भय को जीतता है ।

सम्यक्दृष्टि रोग की पीडा का भय नहीं करता किन्तु रोगों
का यत्न करता है, यदि रोग होवेगा तो योग्य उपचार भी करेगा ।

(४) मरणभय :- जिसका जन्म हुआ है उसका मरण अवश्यम्भार्व
भी मरण का नाम लेने से मिथ्यादृष्टि जीव घबराते हैं न कि सम्यक्
यह शरीर जीर्ण एव शीर्ण वस्त्र के समान है; जीव इसको बदल कर
शरीर में जाता है, इससे आत्मा का कुछ भी नहीं विगडता और संसार
प्राणों के नाश का नाम ही मरण है; मेरे तो एक चेतना ही प्राण है ।
उमका कभी विनाश नहीं होता फिर मैं मरण का भय क्यों करूँ ? ऐ
विचारवान् सम्यक्दृष्टि जीव ही इस मरण भय पर विजय प्रा
करता है ।

सम्यक्दृष्टि मरने से नहीं डरता वह मरण को केवल मकान बदलना
ममभना है; परन्तु अपनी आत्मा को बन्धनों से रक्षित रखने का
करता है ।

भावार्थ :- सांसारिक सुखों की आकांक्षा नहीं करना ।

कर्मपरवशेषान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।

पापबीजे सुखे ऽ नास्या श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥

[र. क. आ.]

भावार्थ :- जो कर्म के आधीन हैं, अन्तकर सहित हैं, जिसका उदय दुःखों से भरा हुआ है और जो आगामी पापों का बीज है, ऐसे चार महा दोषों से भरे हुए सांसारिक सुख में अनित्यता रूप श्रद्धान करना अर्थात् क्षणिक सांसारिक सुख की जरा भी इच्छा नहीं करना निःकाक्षित अङ्ग है ।

(३) निर्विचिकित्सित अङ्ग का लक्षण :-

शरीराद्यशुचित्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासंकल्पापनयः
अथवा ऽ हृत्प्रवचने इदमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्वमुपपन्नमित्य
शुभभावनानिरासो विचिकित्साविरहः ।

अर्थ :- शरीर आदि को अपवित्र समझ कर यह शरीर पवित्र है ऐसे मिथ्या संकल्प का दूर करना तथा अरहन्तदेव के कहे हुए शास्त्रों में जो कुछ कहा है वह सब अयुक्त है अत्यन्त कष्टदायक है यानी बिल्कुल असम्भव है ऐसी अशुभ भावना नहीं करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है ।

भावार्थ :- मुनियों के मलीन शरीर को देख कर ग्लानि नहीं करना तथा अरहन्त देव द्वारा कथित शास्त्रों में जो कुछ वर्णित है वह सब अयुक्त है; अत्यन्त कष्टदायक है एवं बिल्कुल असम्भव है ऐसी अशुभ भावना नहीं करना ही निर्विचिकित्सा अङ्ग है ।

विशेष :- धर्मात्मा पुरुषों के रोगादि सहित शरीर को देखकर घृणा नहीं करना यानी मँले कुचैले पुद्गलों को देखकर उनका सच्चा स्वरूप विचार करके ग्लानि नहीं करना ये ही निर्विचिकित्सा अङ्ग हैं ।

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।

निर्जुगुप्सागुणप्रीतिमंता निर्विचिकित्सिता ॥

[श्लोक र. आ. १३ प्र. प्र.]

इसलिये आकस्मिक भय से कभी चलायमान नहीं होता। प्राचीन आचार्यों ने सिद्धान्त में कहा है कि तीन लोक की सम्पूर्ण वस्तुएँ मिलकर सम्यग्दृष्टि को चलायमान करे तब भी वह अपने दृढ़ श्रद्धान से चलायमान नहीं हो सकता तो फिर मैं कैसे डर सकता हूँ, इस तरह से करना मेरा कर्तव्य नहीं है। वीतराग श्री जिनेन्द्र भगवान् का मार्ग महान् उत्कृष्ट है, उसके उपासक को तो कभी डरना ही नहीं चाहिये, यह भी मैं जानता हूँ कि संसार में कोई भी वस्तु पर्याय रूप से स्थिर नहीं, सब की मर्यादा है तो इस उपसर्ग की भी तो मर्यादा है, इसलिये समय पूर्ण होने पर यह भी दूर हो जायगा। अगर वह मनुष्य पर्याय भी इस ही उपसर्ग से जानी होगी तो अवश्य जावेगी, किसी के रोकने से रुक नहीं सकती। अतः इस अकस्मात्-भय से डरना उचित नहीं है। इस प्रकार आकस्मिक भय से नहीं डरने वाला सम्यग्दृष्टि उपर्युक्त रूप से विचार करता है।

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पाऽऽपसाम्भोवत् सन्मार्गो संशया रूचिः ॥ ११ ॥

[२. क. भा.]

धर्म :- वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है, इस प्रकार ही है अन्य नहीं है इत्यादि रूप में तलवार की धार के पानी के समान अचल एव अटल दृढ़ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन का निःशङ्कित धर्म है।

विशेष :- जैन धर्म व तत्त्वादिक में शङ्का न करना, यदि कोई बात समझने में आये तो सम्यक्त्वो उमको सत्य रूप में ही निश्चय रखता है, परन्तु निर्णय करने का प्रयत्न करता है और विचारों को झुलाता नहीं, दृढ़ रहता है।

(२) निःकांक्षित अङ्ग का लक्षण :-

एहलौकिकपारलौकिकेन्द्रियविषय उपभोगाकांक्षानिवृत्तिः ।
यंतराकांशनिरासो वा निःकांक्षता ।

धर्म :- इस योग्य और इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी भोगोपभोगों की प्राप्ति करना तथा परलोक सम्बन्धी विषयों की इच्छा नहीं करना और परलोकों को उत्पन्न नहीं होने देना ही निःकांक्षित धर्म है।

“निजगुण अरु पर श्रौगुण ढांके, वा निज धर्म वढावै”

(बृहदाला)

अर्थ :- अपने गुणों को तो प्रकट न करना और दूसरे (पर) के अगुणों को छिपाना (ढांकना) ही उपगूहन अङ्ग का लक्षण है ।

स्वयंशुद्धस्य भागंस्य ढालाशक्तजनाश्रयाम् ।

वाच्यतां यत्प्रमाजन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम्

[१५/ २० आ०]

अर्थ :- स्वयं शुद्ध श्री जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट जैन-मार्ग की, अज्ञानी और सामर्थ्यहीन लोगों के कारण से उत्पन्न हुई निन्दा को जैसे हो वैसे दूर करना उपगूहन अङ्ग कहलाता है ।

विशेष :- इस अङ्ग का नाम किन्हीं आचार्यों व विद्वानों ने उपवृहण (धर्म को वढाने वाला) अङ्ग भी बतलाया है ।

स्थितिकरण अङ्ग का लक्षण :-

कषायोदयादिषु धर्मपरिभृंश कारणेषूपस्थितेषु स्वपरयोधर्म-
प्रच्यवन परिपालनं स्थितिकरणम् ।

अर्थ :- धर्म से भ्रष्ट करने वाले क्रोधादिक कषायों के प्रकट होजाने पर अपने को तथा दूसरों को धर्मभ्रष्ट होने से उनकी रक्षा करना अर्थात् धर्म का मार्ग छोड़ने न देना ही स्थितिकरण अङ्ग कहलाता है ।

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्म वत्सलैः ।

प्रत्यवस्थायनं प्राज्ञैः स्थिति करणमुच्यते ॥१६॥

[२. आ.]

अर्थ :- जो कोई सम्यग्दर्शन और सम्यक चारित्र से गिर रहे हों उनको धर्म वत्सल धर्मत्माओं का कर्त्तव्य है कि न गिरने दे क्योंकि गिरते हुए को उठाना ही धर्मत्मा का कर्त्तव्य है ।

अर्थ - मूल मूत्र रजितर मानादि मे भराहुना भी जो मुनी आदि का रोग रत्नत्रय को धारण करने मे वलित हो गया है उममे गुणा न करके रोगादि की अवस्था में उन रत्नत्रय के धारकों की प्रत्येक प्रकार मे मोहा, टहल, चान्द आदि करना निर्विचिकित्सा अज्ञ कहलाता है ।

(४) अमूढदृष्टि अज्ञ का लक्षण :-

बहुविधेषु दुर्नयचतमसु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्त्यभावमध्यवस्थ
परीक्षा चक्षुषा विरहितमोहमूढ दृष्टित्वम् ।

अर्थ :- अनेक प्रकार के दुर्नयभाग (मिथ्याभाग) हैं जिनमे कहे हुए अतत्त्व व मिथ्यातत्त्व भी तत्त्वों के समान जान पड़ते हैं उनमें युक्तियों का अभाव समझकर परीक्षा हपी (ज्ञान हपी) नेत्रों के द्वारा अपना मोह दूर करना अर्थात् ऐसे मिथ्याभाग में मोहित न होना अमूढदृष्टि अज्ञ है ।

भावाभं :- अनेक प्रकार के मिथ्याभागों के अतत्त्वों को युक्ति-रूप नहीं होने के कारण से तत्त्वरूप न समझ कर मोह भाव पैदा ही न होने देना अर्थात् उन युक्तियों का अभाव समझ कर परीक्षा हपी अन्तरङ्ग ज्ञान चक्षुषों के द्वारा अपने मन में मोह हपी परिणामों को उत्पन्न नहीं होने देना यानी मिथ्याभाग में आकर्षित नहीं होना ही सम्यग्दर्शन के अमूढदृष्टि अज्ञ का लक्षण है ।

(५) उपगूहन अज्ञ का लक्षण :-

उत्तमक्षमादिभावनयात्मनः आत्मीयस्य च धर्मपरिवृद्धिकर
मुपगूहणम् ।

अर्थ :- उत्तमक्षमादि भावनाओं के द्वारा अपनी आत्मा तथा कुटुम्ब परिवार व अन्य लोगों के धर्म को वृद्धि करना ही उपगूहन अज्ञ है ।

भावाभं :- धर्मात्मा के दोषों को प्रगट नहीं करना पर (दूसरे) के दोषों को छुड़ाने का उपाय करना सो दीय नहीं है अथवा अपनी आत्मा की दोषों को मार्दवादि भावों के लिये बढ़ाना, प्रमाद रूप न रखना और धर्म वृद्धि न ही उपगूहना है ।

(८) सम्यग्दर्शन के प्रभावना अङ्ग का लक्षण :-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यत्रयप्रभावादात्मनःप्रकाशनमथवा ज्ञान-
तपःपूजासु ज्ञानदिनकरकिरणः परसमयखद्योतोद्योतावरणकरणं च,
महोपवासादि लक्षणेन देवेन्द्रविष्टरप्रकंपनसमर्थेन सत्तपसा स्वसमय
प्रकटनं च महापूजादानादिभिर्धर्मप्रकाशनं च प्रभावना ।

अर्थ :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनों के प्रभाव से
आत्मा का प्रभाव प्रकट करना अथवा ज्ञान तपश्चरण और पूजाओं में ज्ञान
रूपी-सूर्य की किरणों के द्वारा परमतरुपी खद्योत (जुगनुं या पटवीजना) का
प्रकाश ढक देना तथा जिसमें इन्द्रादि बड़े २ देवों के आसनों को कम्पायमान
करने की सामर्थ्य है, ऐसे बड़े २ महोपवासादिक (मासोपवास) श्रेष्ठ तपश्चरण
के द्वारा अपने जैनमत को प्रसिद्ध करना और महापूजा तथा महादानादिकार्यों
के द्वारा धर्म का प्रकाश करना ही प्रभावना अङ्ग का लक्षण है ।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमयाकृत्य यथायथम् ।

जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥१८॥

[र. आ.]

अर्थ :- अज्ञानरूपी अन्धकार के समूह को हटाकर भली प्रकार से जिन-
शासन के महात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है ।

भावार्थ :- संसार में चारों तरफ अज्ञानान्धकार फैला हुआ है । लोग यह
नहीं जानते कि सच्चा मुक्ति का मार्ग कौन सा है; वे वस्तु के स्वरूप से सर्वथा
अनभिज्ञ हैं, इसलिये उनको उपदेश द्वारा विद्यादान व वास्तविक तत्त्वों के
स्वरूप को समझा कर मिथ्यान्धकार को मिटा कर ज्ञानी बनाने के लिये
सम्पूर्ण शक्ति लगा देना सच्ची धर्म की प्रभावना है ।

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।

दानतपो जिनपूजो विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

[पुरुषार्थ सिन्धुपाय]

(७) वात्सल्य अङ्ग का लक्षण :-

जितप्रणीते धर्मांमृते नित्यानुरागता अथवा सद्यः प्रसूता यथा-
गौर्वत्सेस्तिह्यति तथा चातुर्वर्णसंघे ऽ कृत्रिमस्नेहकरणं वात्सल्यम् ।

अर्थ :- भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्मरूपी अमृत में सदा अनुराग रखना यानी जिस प्रकार से तुरन्त की प्रसूता गाय अपने बच्चे पर प्रेम करती है उसही प्रकार से चारों प्रकार के संघ (मुनि, अजिका, श्रावक, श्राविका) पर स्वाभाविक प्रेम करना ही वात्सल्य अङ्ग कहलाता है ।

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथायेतकैतवा ।

प्रतिपत्तियथायोग्यं वात्सल्यमभिलष्यते ॥१७॥

[र. भा.]

अर्थ :- अपने सहधर्मी भाईयो के प्रति समीचीन भावों से छल कपट रहित यथायोग्य आदर मत्कार करना वात्सल्य अङ्ग है; उन से निःस्वार्थ निष्कपट प्रेम रखना ही धार्मिक वात्सल्यता है ।

करोति संघे बहुधोपसर्गेरूपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः ।

चतुर्विधेव्यापृतिमुज्ज्वलां यो वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टिः ॥

[श्लोक ७६ अ. ३ भा.]

अर्थ :- मुनि, श्राविका, श्रावक, श्राविका ऐसे चार प्रकार के संघ में समुदाय रूप में व किमी भी प्रकार का उपसर्ग व कष्ट घागया हो या आ रहा हो तो अपने सामाजिक स्वार्थ की वाञ्छा न रखकर केवल धर्मबुद्धि से तन, मन और धन के दाग पपानाकिन उम मद्दत को दूर करना व कराना वात्सल्य अङ्ग है ।

“उपेक्षायां तु जायते तत्वात् दूरतरोनरः ।

ततस्तस्य भयोदीर्घः विरुद्धसमयोऽपिच” ॥

[अमितपति भावशुभकार]

अर्थ :- जो सम्पद्दृष्टि धर्मांभार्या के मद्दत मिटाने (दूर करने) में उपेक्षा करता है धर्मान्ध्र स्थान नहीं देता है वर सम्पत्त्य की अपूर्णता में दीर्घ संभारि होता है, उसका ऐसा करना मिटाने के प्रतिकूल है ।

(८) सम्यग्दर्शन के प्रभावना अङ्ग का लक्षण :-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यत्रयप्रभावादात्मनःप्रकाशनमथवा ज्ञान-
तपःपूजासु ज्ञानदिनकरकिरणः परसमयखद्योतोद्योतावरणकरणं च,
महोपवासादि लक्षणेन देवेन्द्रविष्टरप्रकंपनसमर्थेन सत्तपसा स्वसमय
प्रकटनं च महापूजादानादिभिर्धर्मप्रकाशनं च प्रभावना ।

अर्थ :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनों के प्रभाव से
आत्मा का प्रभाव प्रकट करना अथवा ज्ञान तपश्चरण और पूजाओं में ज्ञान
रूपी सूर्य की किरणों के द्वारा परमतहपी खद्योत (जुगनू या पटवीजना) का
प्रकाश ढक देना तथा जिसमे इन्द्रादि बड़े २ देवों के आसनों को कम्पायमान
करने की सामर्थ्य है, ऐसे बड़े २ महोपवासादिक (मासोपवास) श्रेष्ठ तपश्चरण
के द्वारा अपने जैनमत को प्रसिद्ध करना और महापूजा तथा महादानादिकार्यों
के द्वारा धर्म का प्रकाश करना ही प्रभावना अङ्ग का लक्षण है ।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमयाकृत्य यथायथम् ।

जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥१८॥

[र. आ.]

अर्थ :- अज्ञानरूपी अन्धकार के समूह को हटाकर भली प्रकार से जिन-
शासन के महात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है ।

भावार्थ :- संसार मे चारों तरफ अज्ञानान्धकार फैला हुआ है । लोग यह
नही जानते कि सच्चा मुक्ति का मार्ग कौन सा है; वे वस्तु के स्वरूप से सर्वथा
अनभिज्ञ है, इसलिये उनको उपदेश द्वारा विद्यादान व वास्तविक तत्त्वों के
स्वरूप को समझा कर मिथ्यान्धकार को मिटा कर ज्ञानी बनाने के लिये
सम्पूर्ण शक्ति लगा देना सच्ची धर्म की प्रभावना है ।

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।

दानतपो जिनपूजो विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

[पुरुषार्थ सिन्धुपाय]

अर्थ :- स्तनप्रद के प्रकाश में निज आत्मा को मग्न प्रभावान्वित करने रहना अभ्यन्तर प्रभावना है और दानातिनाय, सप्तोतिनाय, जिनपूजातिनाय तथा विद्यातिनाय के द्वारा जगत में जैन धर्म की प्रभावना करना वास्तविक प्रभावना है; ये दोनों ही प्रभावना अद्भुत हैं। इन आठों अद्भुतों में प्रमत्तः अश्विन-चोर, अनन्तमती सेठ की पुत्री, उदायनराजा, रेवती रानी, त्रिलोकभक्त मन्त्र-वारिषेण राजपुत्र, विष्णु कुमार मुनि और वज्रकुमार मुनि के प्रसिद्ध हुए हैं। इनकी कथायें पुराणों में मौजूद हैं।

सम्यग्दर्शन की महिमा (महत्ता) बताते हैं :-

एवं विधाष्टांगविशिष्टं सम्यक्त्वं, तद्विकल्पघोरणुव्रत महाव्रत-
योर्नामापि न स्यात् । सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्तं स्वर्गाय, महाव्रत-
युक्तं मोक्षाय च ।

सम्यक्त्वम हीनं राज्यमिव श्रेयसे भवेन्नैव ।

न्यूनाक्षरो हि मन्त्रो नालं विपवेदनाच्छिल्पं ॥

अर्थ :- इस प्रकार आठों अद्भुतों से परिपूर्ण सम्यग्दर्शन होता है, यदि सम्यग्दर्शन न हो तो अणुव्रत तथा महाव्रतों का नाम तक नहीं होता है। यही सम्यग्दर्शन यदि अणुव्रत सहित हो तो उससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। और यदि महाव्रत सहित हो तो उससे मोक्षमूख की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार से अज्ञहीन राज्य कल्याणकारी नहीं हो सकता उसही प्रकार अज्ञहीन सम्यग्दर्शन भी कल्याणकारी नहीं हो सकता; सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार अज्ञ हीन मन्त्र से कभी विष की वेदना दूर नहीं हो सकती।

सम्यग्दृष्टि के आठ गुणों का वर्णन :-

सम्यक्त्वस्य गुणा :-

अर्थ :- सम्यग्दर्शन के गुण कहते हैं :-

सर्वेणो निर्वेदो निन्दामर्हा तथोपशम भवती ।

अनुकम्पा वात्सल्यं गुणास्तु सम्यक्त्वयुक्तस्य ॥

अर्थ :- (१) सर्वेण (धर्म कायों में परम रुचि रखना) ।

- (२) निर्वेद (संसार, शरीर भोगों से विरक्त रहना) ।
 - (३) निन्दा (अपने में गुण होते हुए भी अपनी प्रशंसा नहीं करना)
 - (४) गर्हा (अपने में गुण होते हुए भी मन में अपनी निन्दाकरते रहना)
 - (५) उपशम (कपायो की मन्दता करना साम्य भाव रखना)
 - (६) भक्ति (आस्तिक) (पञ्च परमेष्ठियों में गाढ भक्ति करना)
 - (७) अनुकम्पा (जीव दया के भाव प्रकट करते रहना)
 - (८) वात्सल्य (धर्मत्माओं में प्रेम भवा रखना)
- ये आठ सम्यग्दृष्टि पुरुष के आठ बाह्य गुण हैं ।

सम्यग्दर्शन की प्रशंसा :-

उक्तं चावद्धायुष्कविषये :-

सम्यग्दर्शनं शुद्धा नारकतिर्यङ्मनपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुःकुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्स्यव्रतिकाः ॥
भवाब्धौ भव्यसार्थस्य निर्वाण द्वीपयायिनः ।
चारित्रयानयात्रस्य कर्णधारोहि दर्शनम् ॥

अर्थ :- सम्यग्दर्शन की प्रशंसा में अवद्धायुष्क (जिस जीव के सम्यग्दर्शन हो गया हो और आयु कर्म का बधन हुआ हो) उसके लिये लिखा गया है कि जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है वह अरत्नी होने पर भी नारकी, तिर्यच, नपुंसक एवं स्त्री जातियों में उत्पन्न नहीं होता है तथा नीच कुल में भी उत्पन्न नहीं होता है और विकृत अङ्गोपाङ्ग विहीन नहीं होता है एवं थोड़ी आयु (अल्पायु) वाला भी नहीं होता है और दरिद्री भी नहीं होता है ।

और भी लिखा है :- इस संसार रूपी महासागर में जो भव्य चारित्र रूपी जहाज (पोत) पर चढ कर मोक्ष रूपी द्वीप जो जा रहे हैं उनके लिये यह सम्यग्दर्शन खेवटीया (मल्लाह) के समान है ।

भावार्थ :- सम्यग्दर्शन के बिना जीव कभी भी मोक्ष नहीं पहुँच सकता ।

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों का वर्णन :-

दार्शनिकस्य कस्यचित्कदाचिद्दर्शनमोहोदयादतीचाराः पञ्च

भवन्ति । शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा इति । तत्र मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्र्यगुणोद्भावनं प्रशंसा, वचसा भूताभूत-गुणोद्भावनं संस्तवः, एवं प्रशंसासंस्तवयोर्मानसकृतो वाक्कृतश्च भेदः शेषाः सुगमा । सम्यग्दर्शन सामान्यादणुव्यतिकमहाव्यतिनोरिमे-
ऽतिचाराः ॥

अर्थ :- किसी समय किसी सम्यग्दृष्टि के दर्शन मोहनीय कर्म के उदय । शङ्का, आकांक्षा (कांक्षा) विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये पाँच अतिचार भी होते हैं । मन से मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और चारित्र्य गुण को प्रकट करना प्रशंसा है और वचन से उनमें होनेवाले व न होने वाले गुण को प्रकट करना संस्तव है । वस ! यही मन से तथा वचन से होने का प्रशंसा और स्तुति में भेद है, बाकी के अतिचार सब सरल है । सम्यग्दर्शन अणुव्रती और महाव्रती दोनों के एक सा होता है इस लिये ये अतिचार भी दो के ही होते हैं ।

विशेषार्थ :- सम्यग्दर्शन के पञ्चातिचारों का विशेष विवरण :-

[संयम प्रकाश

(१) शङ्कातिचार :- चलित प्रतिपत्तिरूप अनिश्चित अनेक कोटघात्मक संशय कहलाता है जैसे यह साँप है या रस्मी, सीप है या चाँदी, तत्त्व अनेकान्तात्मक है या एकान्तात्मक, जीव का लक्षण चेतना है या नहीं, जिनोक्त तत्त्व मर्चा है या मिथ्या आदि तत्त्वों के विषय में ऐसी शङ्का दर्शन मोहनीय संशानावरण कर्म के उदय में होती है ।

(२) आकांक्षातिचार :- मैं जैन धर्म के प्रसाद से व सम्यग्दर्शन के महात्म्य में देव, यक्ष या राजा हो जाऊँ इस प्रकार पराधीन, विनश्वर और संतोष तथा गृहणा को बढ़ाने वाले मगार गुण की वाञ्छा करना ।

(३) विचिकित्सातिचार :- रत्नत्रय में पवित्र मुनियों, व्रतियों एवं त्यागियों के मर्मान शरीर में घृणा करना अथवा कोई रोगादि में अशक्त होजावे तोउसके वसन व मन मूत्रादि उठाने में या शुद्धिकरण करने में घृणा (ग्लानि) करना ।

विशेष :- ग्लानि करना भी एक कषाय का भेद है । अतः वस्तु स्वरूप का ज्ञान सम्यग्दृष्टि मय मूत्रादि में तो घृणा नहीं करे, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर मयमूत्रादिक का मर्मान कर उनमें उत्पन्न हुई अपवित्रता को मिटाने के लिये

अपने पदानुसार स्नानादि भवश्य करे; क्योंकि मुनियों को भी शुद्धिहेतु कमण्डलु रखना पड़ता है। मुनिराजों को कमण्डलु रखने में विचिकित्सातिचार (दोष) नहीं लगता है।

(४) अन्यदृष्टिप्रशंसातिचार :- मन में मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और चारित्र्य गुणों को प्रकट करना प्रशंसा है और मन से उनमें होने वाले व न होने वाले गुणों की मन में तारीफ करना ही अन्य दृष्टि प्रशंसातिचार (दोष) है।

(५) अन्यदृष्टिसंस्तवातिचार :- वचन से मिथ्यादृष्टियों में होने वाले या न होने वाले गुणों को प्रकट करना अन्यदृष्टि संस्तवातिचार (दोष) कहलाता है।

विशेष - परम्परा का मोह, मूढता और अज्ञानवश कुदेव व कुगरुश्रों की सेवा पूजा करना, कुशास्त्रों को मुनना आदि ऐसे कार्य करना जिनसे सच्चे धर्म पर से श्रृद्धान हटकर सम्यक्त्व में शिथिलता हो जावे अथवा अशक्तता, अज्ञान व प्रमाद के वश किसी रत्नत्रय के धारक से या अन्य सहधर्मों भाई से उसके पद के विरुद्ध कोई दोष आगया हो तो उसे सर्व-साधारण में प्रकट करके धर्म व समाज की हँसी करना एवं निन्दा द्वारा धर्मात्मा को निर्लज्ज व उच्छृङ्खल बना देना अर्थात् धर्मात्मा जीवों की हँसी (खिल्ली) मजाक व निन्दा करना तथा उनकी धार्मिक क्रियाओं में शिथिलाचार पैदा करा देना यानी धर्म से चिगा देना या धर्म साधन में शिथिलकर देना या धर्म-स्थल व धर्मात्माओं से द्वेष करना, उनके दोषों को खोजते रहना, उनकी निन्दा करना, उनके दुःख में सहायता नहीं करना व अन्य को भी मदद न करने देना (रोकना) या कोई धर्मात्मा धर्म प्रभावना का कार्य पूजा प्रतिष्ठादि करना चाहता है अथवा कही पर धर्म कार्य हो रहा हो या होता हो तो उसको नहीं होने देना। जैसे:- विद्यालय, धर्मायतन, शोधालय, साहित्य-समिति, ग्रन्थमाला प्रकाशन, मन्दिर निर्माण आदि लोकोपयोगी कार्यों में सहायता नहीं देना, वितण्डावाद खड़ा कर देना, स्वयं रोक देना व अन्य से रुकवा देना। प्रयोजन यह है कि जिन कार्यों से धर्म की प्रभावना होती हो उसको नहीं होने देना, जिससे धर्म को भूँठा ही लाञ्छन लगजावे ऐसा कर बैठना। उपर्युक्त दोषों से व्यवहार सम्यक्त्वी को बचना चाहिये ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले दोष हैं। अतः सम्यक्त्वी को इस प्रकार से अपना उपयोग लगाने पर संस्तवातिचार (दोष) लगता है।

उपर्युक्त अतिचार:-सम्यग्दर्शन सहित अणुव्रती और महाव्रती दोनों के धारण करने वाले अर्थात् मुनि व थावक के एक रूप से ही होता है।

तीन शल्यों के लक्षण :-

व्रतिको निःशल्यः पञ्चाणुव्रत रात्रिभोजनविरमणशीलसप्तकं
निरतिचारेण यः पालयति स भवति । तत्र यथा शरीरानुप्रवेशिक-
डकुन्तादि प्रहरणं शरीरिणां वाधाकरं तथा कर्मोदयविकारे शरी-
मानसवाधाहेतुत्वाच्छल्यमिच्च शल्यम् ।

अर्थ :- जो शल्यरहित होकर पाँच अणुव्रत रात्रि-भोजनत्याग और स
शीलों को अतिचार रहित पालता है वही व्रती कहलाता है । शल्य वाण
कहते हैं जिस प्रकार शरीर में घुसा हुआ वाण अथवा भाला बरछा की
जीवों को दुःख देती है उसी प्रकार कर्म के उदय जन्म विकार होने पर
शल्य (काटे) के (वाण के समान शरीर और मन को दुःख देनेवाला हो
शल्य कहते हैं ।

शल्य के तीन भेद :-

तत्रिविधं, मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात् । माया ब्रह्म
निदानं विषयभोगाकांक्षा, मिथ्यादर्शनमतत्वश्रद्धानम् । उक्त-
यक्ष्यमाणेन महाव्रतिनाऽपि शल्यत्रयं परिहर्तव्यम् ।

अर्थ :- शल्य के तीन भेद हैं । (१) माया (२) निदान और (३) मि-
थ्यादर्शन भेद से तीन प्रकार का है । यचना (धोका देना) ठगना आदि को म-
कहते हैं । विषय भोगों की इच्छा करना निदान है और अतत्त्वों (गोटे)
अज्ञान करना अथवा मत्त्वे तत्त्वों का अज्ञान न करना मिथ्यादर्शन है ।
जो महाव्रत का स्वर्ण बनेंगे उसको धारण करने वाले महाव्रती को भी त-
न्नों का त्याग कर देना चाहिये ।

भाषार्थ - (१) मायाशल्य :- छल, कपट, यचना (धोका देना) ।
ठगना आदि को माया चार कहते हैं; इन मर्तल हो उगे मायागारी कहते
आत्मत्वों का इन, मोल और मयम समान भ्रष्ट है । मायागारी का यग
धर्म दोनों ही कपट हो जाते हैं । और दुर्गति में जाना पड़ता है । अगर दु-
ले इनके उपाय करना चाहें तो इन मायाचार (मायाशल्य) को हृदय
हृदय में न रखें ।

(२) निदानशल्य :- इन पाँच सम्पत्तियों तथा परलोभ मयत्त्यों विषय

भोगों की वाञ्छा करना निदान है । धर्म के प्रभाव से मोक्ष तक मिल सकता है फिर धर्म को धारण कर उससे परभव के भोगों की वाञ्छा करना निदान शल्य है, इससे आत्मा जन्म - मरण के दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकता । अतः आत्म कल्याणच्छुक व्यक्ति को निदान शल्य का त्याग कर देना चाहिये ।

(३) मिथ्यात्व दर्शन शल्य :- सच्चे तत्वों का अश्रद्धान (श्रद्धान न करना) करना और छोटे अतत्वों का श्रद्धान करना तथा कुदेव, कुगण, कुशास्त्र का मानना, पूजना ये सब मिथ्यात्व है, इस सहित जो कार्य है वही मिथ्याशल्य है जो दुर्गति को ले जाने वाला है इसलिये आत्महितैषी को इस मिथ्या शल्य को निकाल देना चाहिये ।

विशेष :- सम्यग्दर्शन के पच्चीस (२५) मलदोषों का विवरण :-

- (१) शङ्कादि आठ दोष (२) आठ मद (३) छै अनायतन और
- (४) और तीन भ्रूढता ।

आठ शङ्कादि दोष :-

- (१) शङ्का :- जैन धर्म के तत्वादिक में शङ्का करना ।
- (२) कांक्षा :- सामारिक भोगों में वाञ्छा करना ।
- (३) विचिकित्सा :- धर्मात्मा लोगों को रोगादि सहित व दीनावस्था में देख कर घृणा करनी अथवा मैले पुद्गलों को देख कर उनका सच्चा स्वरूप न विचार करके ग्लानि करना ।

(४) भ्रूढदृष्टि :- भ्रूढताई से किसी चमत्कार को देख कर किसी कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की श्रद्धा कर लेना ।

(५) अनुपगूहन :- धर्मात्मा के दोषों को इस इच्छा से प्रकाश करना कि इसकी निन्दा हो ।

(६) अस्थितिकरण :- अपने या दूसरे को धर्म-मार्ग में गिधिल होते हुए स्थिर न करना ।

(७) अवात्सल्य :- धर्मात्माओं से प्रीतिभाव न रखना ।

(८) अप्राभवना :- धर्म की प्रभावना नहीं चाहना व धर्म वृद्धि करने वा यत्न न करना ।

आठ मददोष :-

- (१) जातिमद :- अपने मामा, नाना के बहृष्यन वा घमण्ट करना ।

- (२) कुलमद :- अपने पिता, दादा आदि के बटपान का अभिमान करना ।
 (३) लाभमद - अपने को धन ऐश्वर्य का अधिक लाभ देगतर मद करना ।
 (४) हपमद - अपने सुन्दर शरीर को देग कर घमण्ट करना ।
 (५) बलमद - अपने शरीर की ताकत (शक्ति) को देग कर उमता अभिमान करना ।

- (६) विद्याकामद :- अपनी विद्वता की बटाई जान कर घमण्ट करना ।
 (७) अधिकारमद :- अपनी आज्ञा बहुत चलती है ऐसा जानकर मद करना ।
 (८) तप का मद :- आप तप, व्रत उपवास विशेष कर उमका घमण्ट करना ।
 छे अनायतन दोष -

(१) कुदेव अनायतन संगति - जहाँ धर्म प्राप्त नहीं हो सकता ऐसे रागी, ड्रेपी देवों की संगति करनी ।

(२) कुगुरु अनायतन संगति :- जिसमें धर्म प्राप्त नहीं है ऐसे कुगुरुओं की संगति करनी ।

(३) कुधर्म अनायतन संगति - धर्म जिसमें न पाइये ऐसे कुधर्म व कुधर्म तेषादित शास्त्रों की संगति करनी ।

(४) कुदेव-पूजक अनायतन संगति :- कुदेव के पूजनेवालों में धर्म का स्थान नहीं ऐसे लोगों की संगति करनी ।

(५) कुगुरु-पूजक अनायतन संगति - कुगुरु के पूजनेवालों में धर्म का स्थान नहीं है ऐसे लोगों की संगति करनी ।

(६) कुधर्म-पूजक अनायतन संगति - कुधर्म के पूजनेवालों जिनमें धर्म नहीं है ऐसे लोगों की संगति करनी ।

नोट - संगति का अर्थ यह है कि मित्र के समान रात-दिन व्यवहार करते हुए संगति रखना, उसका प्रयोजन यह है कि जिसमें श्रद्धान विचरित हों जावे एंगी संगति न करनी, व्यवहार में व्यवहार सम्बन्धी कार्यादि रखने में कोई नुकसान नहीं है । जिस जीव को धर्म्याम करना होता है उसकी सम्हाल के लिये उपाय है जो कोई अपने तत्वज्ञान में परिपक्व होकर अन्य धर्मों की पुस्तकों को उनके तत्वों का जान करने हेतु देखना है उसके लिये यह ध्यान नूतना बागी नहीं है ।

१ देव मूढता :- वीतराग देव के सिवाय लोगों की देखा-देखी अन्य रागी, द्वेषी देवों की मान्यता करनी ।

(२) गुरु मूढता :- लोगों की देखा-देखी परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरु के सिवाय अन्य परिग्रहधारी साधुओं को धर्मगुरु मान करके विनय करना ।

(३) लोक मूढता :- लोगों की देखा-देखी जो धर्म की क्रिया नहीं है उनको धर्म-क्रिया मान प्रवर्तने लगना । जैसे- सूर्य-ग्रहण में स्नान, मन्त्रान्ति में दान, कार्तिक पूर्णिमा को गङ्गा स्नान कागज, कलम, दवात, मिट्टी, शस्त्र, देहली आदि की पूजा करना । उपर्युक्त सम्यग्दर्शन को मलिन बनाने वाले पच्चीस मल दोष हैं । अतः सम्यग्दृष्टि को इन दोषों में अवश्यमेव बचना चाहिये ।

व्रत का लक्षण :-

अभिसंधिकृतो नियमो व्रतामित्युच्यते ।

अर्थ :- अभिप्रायपूर्वक नियम करने को व्रत कहते हैं ।

भावार्थ :- अभिप्रायपूर्वक दिन, पक्ष, महिना, वर्ष या जीवन पर्यन्त के लिये नियम या प्रतिज्ञा करने को व्रत कहते हैं । गृहस्थ के समस्त पापों का त्याग होना असम्भव है । अतः गृहस्थ एकदेश रूप से ही पापों का त्याग कर सकता है ।

अहिंसाणु व्रत का लक्षण

सर्वं सावद्यनिवृत्यसंभवादणुव्रतं द्विन्द्रियादीनां जङ्गमप्राणिनां प्रमत्तयोगेन प्राणव्यपरोपणान्मनोवाक्कायैश्च आगारीत्याद्यणुव्रतम् ।

अर्थ :- गृहस्थ संसार के सम्पूर्ण पापों का त्यागी नहीं हो सकता यानी ममस्त पापों का त्यागी हो जाना उसके लिये असम्भव है । अतः जो गृहस्थ मन, वचन काय इन तीनों से एवं प्रमाद व कपाय से होनेवाले दो इन्द्रिय आदि वस्तु जीवों के घात से दूर रहता है अर्थात् जो मन, वचन और काय इन तीनों में व्रम जीवों को हिंसा करना छोड़ देता है उसका वह पहला अहिंसाणुव्रत कहलाता है ।

विशेष :- अहिंसाणुव्रत के विषय में अन्य आचार्यों के मतानुसार नीचे कथन किया जा रहा है ।

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चर सत्वान् ।

न हिनस्ति यत्तदाहः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥५३॥

[रत्न करण्ड आचर्यभार]

अर्थ :- सकल्प मे मन, वचन धीर नाग के द्वारा जो कृत, कारित और अनुमोदना मे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय जीवो का घात करना है उमको निपुण पुण्य गणधर्मिकों ने स्थूलवध विरमण अर्थः

“त्रस हिंसा को त्याग वृथा थावर न संहारे” (छहडाता)

अर्थ :- त्रस हिंसा का गर्वया परिन्याग कर व्यर्थ थावर जीवो की हिंसा न करना अहिंसाणुव्रत है ।

जो जन मन धच काया से कृत कारित सो जेह ।

त्रस को त्रासन दीजिये प्रथम अणुव्रत एह ॥ (एक कवि)

भावार्थ - सकल्प करके (इरादा करके) जो त्रम जीवों की हिंसा मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना मे नहीं करनी सो स्थूलवध से विरमण रूप अहिंसाणुव्रत है । इन व्रतो मे अपने भोजन औपधि के उपचार व पूजा के अर्थ किसी भी द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक त्रम जीवों को घात करने वा इरादा नहीं करता है, न इस लिये वचन बोलता है, न काय से चेट्टा करता है, न दूसरे से करता है और न किसी के हिंसामई कार्य की प्रगंसा ही करता है ।

स्थूल ग्रहणमुपलक्षणं तेन निरपराध संकल्पपूर्वकहिंसादीनामपि ग्रहणं अपराधकारियु मथा विधि दण्ड प्रणेतृणां चक्रवर्त्यादीनाम् अणुव्रताविधारणं । पुराणादियु बहुशः श्रूयमाणं न विरुद्धयते ।

[सांगान्धर्मीकृत]

अर्थ :- स्थूल शब्द से यहाँ निरपराधियों पर संकल्प करके हिंसादि करना ग्रहण किया गया है, क्योंकि अपराध करने वालो को यथा योग्य दण्ड देना यह बात चन्द्रवर्ती आदिको के सम्बन्ध में पुराणों मे बहुधा देखने मे मुनने मे आई है और वे अणुव्रत के धारी थे । इसमे दण्डादि देने मे न्याय-पूर्वक जो प्रवृत्ति करना है उमका विरोध अणुव्रतधारी के नहीं है । इस व्रत के धारी (चारों ही वर्ण वालों के होते हैं) अग्नि, ममि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या ऐसै पट्कर्मों का न्यायपूर्वक करने वाला आरम्भो गृहस्थो थावक होता है; अर आरम्भो हिंसा को यह वचा नहीं सकता ।

गृहवासी विनारम्भान्चारम्भो विना वधात् ।

त्याग्यः स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्वानुपङ्गिकः ॥१२॥ [सा० ५०]

अर्थ :- आरम्भ के बिना गृहस्थाश्रम में रहना नहीं हो सकता और आरम्भ बिना वध के नहीं हो सकता, इसलिये अणुव्रती श्रावक को यत्न करके मुख्य कहिये सकल्पी हिंसा को तो छोड़ना ही चाहिये, क्योंकि व्यापारिक हिंसा का त्यागना तो कठिनता से होने योग्य है ।

भेषजातिथिमन्त्रादि निमित्तेनापि नाङ्गिनः ।

प्रयमाणुव्रताशक्तेर्हिसनीयाः कदाचन ॥७६७॥

[आ. अमितगति] सु. र. सं.

अर्थ :- प्रथम अहिमाणुव्रत के पालने वाले को उचित है कि दवाई, अतिथि-मन्कार (महमानों की दावत) तथा मन्त्र वर्ग रह के लिये भी व्रस प्राणियों का पात कभी न करे ।

त्रिज्ञान नेत्र सम्यक्त्व शुद्धिभाग्देश संयतः ।

सृष्टारभभिवन्द्यायात् कैलाशात् नगरोत्तमम् ॥ [आदिपुराण ३२१ प.५७]

अर्थ :- तीन ज्ञान रूपी नेत्र करके तथा सम्यक्त्व की शुद्धता करके सहित देश मयमी श्री भरतजी, श्री आदिनाथ स्वामी ब्रह्मा को नमस्कार करके कैलाश से अपने उत्तम नगर (अयोध्या) को आये ।

मारांग यह है कि प्रथम अणुव्रती के हृदय में तो करुणा बुद्धि ऐसी होनी चाहिये कि वह स्यावर एकेन्द्रिय जीव और द्वीन्द्रियादि सब की रक्षा चाहे तथा प्रवृत्ति में गानपानादि व्यवहार के लिये जिनकी जरूरत हो उतनी ही स्यावर काय की विराधना करे । आवस्यकता ने अधिक व्यर्थ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कार्यात्मक की हिंसा न करे और व्रम जीवों की हिंसा गानपानादि व्यवहार व शोषधि, मन्त्र, तन्त्र, पूजा-धर्वा, अतिथि का आदर आदि कार्यों के निमित्त जान बूझकर कदापि न करे । एकेन्द्रिय की भी जरूरत में अधिक हिंसा न करे ।

स्तोकैकोन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।

शेषस्यावरभारण विरमणमपि भवति करणीयम् ॥ [कृष्णकण्ठसूत्र]

भाषार्थ :- व्यापारगतिक आरम्भ कार्यों में प्रवृत्त करने हुए पद श्रेयों की हिंसा का बचाव नहीं करना है, यद्यपि व्यर्थ और अन्धाय-पूर्वक व्रम हिंसा कदापि नहीं करना । मोन वषों के श्रावकों का धरने २ पद के योग्य परि. मणि. इति. वाणिज्य. गिन्य और दिष्टा (इतने में परि कहिये अन्धाय रक्षा के

कार्य द्वारा क्षत्री, मसि, वाणिज्य से वैश्य और शिल्प, कृषि, व विद्या (भारत कलादि)से शूद्र आजीविका करता है) इन पड़ कर्मों के द्वारा आजीविका व तक आरम्भ त्याग नाम श्रावक के आठवें दरजे में न पहुँचे तब तक शौरी या बहुत अपनी २ स्थिति के अनुसार करनी पड़ती है, तो भी दयालु पात्र जहाँ तक बने बहुत विचार पूर्वक वर्तन करता है; उसके अन्तरङ्ग में तो बड़ी श्रद्धा रहती है कि मुझे जीव हिमान करनी पड़े तो ठीक है, परन्तु प्रत्यक्षा-नावरणी कषाय के उदय से गृहकार्य आजीविका आदि त्यागने में अममयं होना है, इससे लाचारी वश आरम्भजनित हिंसा छोड़ नहीं सकता परन्तु मयात्मना ऐसी हिंसा से बचने की चेष्टा करता रहता है जैसे संभव हो वैसे ही ऐसे आरम्भ ववाता है, जिनमें बहुत से बस जीवों का घात होता हो। क्षत्री, वैश्य और शूद्र हूँ एक वर्णवाला इस श्रत को पाल सकता है।

(१) अहिंसाण्यत के पञ्चातिचारों का वर्णन :-

तस्य प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण लक्षणस्य पञ्चातिचारो भवति । बंधो, वधः, छेदः, अतिभारारोपणं, अन्नपाननिरोधश्चेति तत्रामिमत्तदेश गमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबंध हेतोः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिर्षगो बंधः । दण्डकशावेत्तादिभिः प्राणिनामभिघातो वध कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदः । न्यायादनपेताद्भारतिरिक्तस्य भारस्यबाहनमति लोभाद् गवादीनामतिभारारोपणं तेषां गवादीनां कुतश्चित्कारणात् क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमन्नपाननिरोध इति ।

अर्थः— प्रमाद के निमित्त में वग जीवों की हिंसा का त्याग करने स्प मागूदन के बध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध में धनिभार है।

(१) बंधातिचारः— जो पुरुष स्त्री पुरुष पशु अपनी इच्छानुसार किन्हीं स्थान को जाना चाहते हैं उसे रोकने के लिये मूटा आदि में रस्सी से बंधन करतना है।

(२) वधातिचारः— रस्सी, कोड़ा, पावुन और चेत आदि के द्वारा वध करतना है।

भावार्थ :- इसमें दूसरों को पीडारूप होने से हिंसा का पाप लगता है इस-
लिये यह बंधातिचार है ।

(३) छेदातिचार :- कान, नाक आदि अवयवों का काटना छेद है ।

(४) अतिभारारोपणातिचार -- बल, घोडा आदि जीव अपनी शक्ति के
अनुसार न्याय से ले जाने योग्य जितना बोझ ले जा सकते है उतना ही बोझ
लादना, उससे अधिक बोझा लादना अतिभारारोपण नामका अतिचार कहलाता है ।

(५) अन्नपाननिरोधातिचार -- किसी भी कारण से उन बल, घोडा आदि
जानवरों को भूख प्यास की बाधा देना अन्नपान निरोध कहलाता है ।

(२) सत्याणुव्रत का लक्षण व अतिचार -

स्नेहस्य द्वेषस्य मोहस्य बोद्रेकाद्यदसत्यभिधानं ततो निवृत्ताद-
रोगृहीति द्वितीयमणुव्रतम्, । तस्य व्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति ।
मिथ्योपदेशः, रहोऽभ्याख्यानं, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, साकार-
मंत्रभेदश्चेति ।

सत्याणुव्रत का लक्षण-

अर्थ :- स्नेह, द्वेष और मोह के उद्रेक से असत्य भाषण किया जाता है उस
असत्य के त्याग करने में आदर रखना गृहस्थ का दूसरा सत्याणुव्रत कहलाता
है, इस सत्याणुव्रत के भी (१) मिथ्यापदेश (२) रहोभ्याख्यान (३) कूटलेख-
क्रिया (४) न्यासापहार और (५) साकार मंत्र भेद ये पाँच अतिचार होते हैं ।

सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार-

तत्राभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनम-
भिसंधानं वा मिथ्योपदेशः । स्त्रीपुरुषाभ्यामेकांते ऽनुष्ठितस्यक्रिया-
विशेषस्य प्रकाशनं रहोऽभ्याख्यानम् । अन्येनानुक्तं यत्किंचित्परप्र-
योगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति बच्चनानिमित्तं लेखनं कूटलेख-
क्रिया । हिरण्यादेर्देयद्रव्यस्य निक्षेप्तुविस्मृतसंख्यास्याल्पसंख्यानमा-
ददानस्य 'एवमित्था'-नुज्ञाबचनं न्यासापहारः । अर्थ प्रकरणाङ्गवि-
कारभ्रक्षेपादिभिः पराकृतमुपलभ्य यदाविष्करणभूयादिनिमित्तं
तत्साकारमंत्रभेद इति ।

(१) मिथ्योपदेशातिचार का लक्षण :- अभ्युदय और मोक्ष मिद्ध करने वालो

विशेष क्रियाओं में किसी भी अन्य पुरुष को विपरीत करने प्रकृत का अर्थ या तो मिथ्योपदेश नामकमन्याणुत्थन का प्रतिनार है।

(२) रहोभ्याह्वानातिचार :- स्त्री पुरुषों के द्वारा एकान्त में की हुई क्रियाओं को दूसरों के समक्ष में प्रकट (प्रकाशित) कर देना द्वितीय रहोभ्याह्वानातिचार है।

(३) कूटलेखक्रियातिचार - जो बात किसी दूसरे ने नहीं कही है वह बात को किसी की प्रेरणा में उसने यह बात कही है अथवा उसने यह बात किया है इस प्रकार में ठगने के लिये झूठा लेख (दस्तावेज) लिखना कूटलेख नामका तृतीयातिचार है।

(४) न्यासापहारातिचार :- कोई पुरुष सोना, चाँदी आदि द्रव्य किसी धरोहर रख गया हो और फिर अपनी रकबी हुई सख्या भूलकर थोड़ा ही अधिक मांगता हो उसके लिये वह धरोहर रखने वाला कहता है कि "मच्छा लोके कि जितना रख गये थे उतना ले जावो" इस प्रकार कपट से आज्ञा दे तो उस धरोहर रखने वाले के न्यासापहार नामका अतिचार लगता है।

(५) साकार मंत्र भेदातिचार :- किसी अर्थ के प्रकरण से अथवा अज्ञान विकार में या भौह चलाने आदि किसी भी कारण से दूसरे का अभिमत जानकर ईर्ष्या और डाह के निमित्त उस अभिप्राय को प्रकट कर देना साकार मंत्रभेदातिचार कहलाता है।

(३) अधीर्षाणुत्थन का लक्षण :-

विस्मृतं वा यदवहं ततो निवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुवतम् ।
अर्थ :- जो राजा आदि के अर्थ के वश में, परवश होकर छोड़ दिया गया हो अथवा कोई गन्ना गया हो या किसी में पड़ गया हो एवम् कोई भूल गया हो ऐसे दुर्गमों को दृष्ट देनेवाले बिना दिये हुए द्रव्य को ग्रहण करना चोरी है उसका स्थान करना या उमका न्याय करने में आदर रखना श्रावक का तृतीय अधीर्षाणुत्थन कहलाता है।

विशेष :- निहितंवा पतितंवा सुविस्मृतंवा परस्वमविस्मृतम् ।
मग्न न हरति मग्न च दत्ते तदकृता चीर्षादिमारमणम् ॥५७॥

अर्थ :- रक्खा हुआ, गिरा हुआ, भूला हुआ व बिना दिया हुआ दूसरे का जो नहीं लेता है और न किसी को देता ही है सो वह अचौर्याणुव्रत है ।

श्री आचार्य अमितगति ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट किया है :-

येऽप्यहिंसादयो धर्मास्तेऽपि नश्यन्ति चौर्यतः ।

मत्वेति न त्रिधा ग्राह्यं परद्रव्यं विचक्षणैः ॥७७६॥

अर्थाः बहिश्चराः प्राणाः प्राणिनां येन सर्वथा ।

पर द्रव्यं ततः सन्तः पश्यन्ति सदृशं मृदा ॥७७८॥

अर्थ :- चोरी करने से अहिंसा आदिक धर्म भी नष्ट हो जाते हैं, ऐसा जानकर मन, वचन, काय से चतुर पुरुषों को दूसरो के द्रव्य को नहीं चुराना चाहिये। प्राणियों का बाह्य प्राण द्रव्य (धन) ही है इसलिये दूसरे का द्रव्य सर्वथा मिट्टी के सामान है - ऐसा सन्त पुरुष मानते (देखते) हैं ।

यह अणुव्रती उन जीवों को बिना दी हुई ले सकता है जिन चीजों की राजा व पञ्चायत अथवा किसी समाज की तरफ से लिये जाने की आज्ञा (इजाजत) है । जैसे- हाथ धोने को मिट्टी, स्नान करने एव पीने के लिये नदी, तालाब तथा कुवे का जल व इस ही तरह (किस्म) की और कोई छोटी चीज जैसे- पत्ते, फल, फूल, तिनका, घास आदि अगर इन चीजों के लिये कही मनाई हो अथवा इनका कोई मालिक हो ऐसी वस्तुओं को बिना पूछे लेलेना यह भी चोरी है । जिस चीज को लेने पर कोई पकड़ नहीं सकता और न मना कर सकता है ऐसी सर्व साधारण से लेने योग्य चीज को लेना सो स्थूल चोरी नहीं है ।

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार -

अदत्तादानविरतेः पञ्चातिचाराः भवन्ति । स्तेनप्रयोगः तदाहु-
तादानं विरुद्धराज्यातिक्रमोहीनाधिकमानोन्मानं प्रतिरूपकव्यवहारश्-
चेति । मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनं मुश्लतं स्वयमेव प्रयुक्ते । अन्येन वा
प्रयोजयति अन्यप्रयुक्तमनुमन्यते वायः स स्तेनप्रयोगः । अप्रयुक्तेना-
नुमतेन च चौराणां नितस्य ग्रहणं तदाहुतादानम् । विरुद्धं राज्यं
विरुद्धराज्यं, उचितन्यायादन्येन प्रकारेणादानग्रहणमतिक्रमः, तस्मिन्
विरुद्धराज्ये योऽत्तावतिक्रमः स विरुद्धराज्यातिक्रमः प्रत्यादिमानं
तुलाद्युन्मानमेतेन न्यूनानान्यस्मै देयमधिज्ञेनात्मनाप्राप्त्यमित्थमेवमात्रि-

कूटप्रयोगो होनाधिकमानोन्मानम् कृत्रिमं हिरण्याविमिर्षचनानापूर्वको
व्यवहारः प्रतिरूपक व्यवहार इति ।

अर्थ :- इस अचीर्षाणुग्रत के पाँच प्रतिहार होते हैं । (१) स्तेन प्रयोग
(२) तदाहृतादान, (३) विरुद्धराज्यातिक्रम (४) होनाधिकमानोन्मान और
(५) प्रतिरूपक व्यवहार ये पाँच प्रतिहार अचीर्षाणुग्रत के होते हैं ।

(१) स्तेन प्रयोग :- चोर को तीन तरह से प्रेरणा की जा सकती है- एक
तो चोर को स्वयम् प्रेरणा करना दूसरे अन्य किसी में प्रेरणा करवाना और
तीस रेचोरी करने वाले को अच्छा (भला) मानना, इन तीनों प्रियाओं को
स्तेनप्रयोग नामक अचीर्षाणुग्रत का सर्वे प्रथम अतिचार कहा है ।

भाषार्थ :- चोरी करने के लिये प्रेरणा करनी । जिनको मन, बचन, काय,
कृत, कारित और अनुमोदना से स्थूल (मोटे रूप से) चोरी का त्याग है, उसके
लिये तो चोर से चोरी कराना, वस्तु का भङ्ग करना ही होगा, परन्तु यहाँ
अतिचार इसलिये कहा है कि जैसे किसी के पास खाने को या स्वप्न करने को
द्रव्य नहीं है मानी गरीब है ऐसी स्थिति में उससे (गरीब से) कहना कि जो
वस्तु तुम लावोगे उसको हम ले लेंगे (खरीद लेंगे) अथवा बच देंगे इस प्रकार
के भाव करने मात्र से ही एक देश भङ्ग होने में अतिचार है ।

(२) तदाहृतादानातिचार :- जिसको चोरी करने के लिये न तो प्रेरणा की
है और न जिसकी चोरी करने में सहमत हुआ है ऐसे चोर के द्वारा लाये हुये
द्रव्य को ग्रहण करना तदाहृतादान नामक दूसरा अतिचार है ।

भाषार्थ :- चोरी का लाया हुआ पदार्थ लेना । चोरी का पदार्थ गुप्त रीति
से ले लेना ऐसा करना भी चोरी ही है, परन्तु व्यापारार्थ कुछ अल्प मूल्य में
खरीद लेना अथवा किसी दूसरे को दिलवा देना भी अचीर्षाणुग्रत का द्वितीय-
तिचार है ।

(३) विरुद्धराज्यातिक्रमातिचार :- जिस राज्य में विरुद्धता फैली हो उसे
विरुद्ध राज्य कहते हैं, उचित न्याय को छोड़कर दूसरी तरह से ग्रहण करना
पतिक्रम कहलाता है । किसी विरुद्ध राज्य में अतिक्रम करना अर्थात् उचित
य को छोड़कर अन्याय पूर्वक लेना व देना विरुद्ध राज्यातिक्रमातिचार है ।

:- कहीं राज्य भ्रष्ट हो गया है अथवा छत्र भङ्ग हो गया है वहाँ जा
भ्रमर्षादि में व्यापार करना मानी उचित न्याय छोड़ कर द्रव्यादिका लेना

देना सो विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका तीसरा अतिचार है। कोई कोई ऐसा धर्म भी करते हैं कि राज्य की आज्ञा के विरुद्ध महसूल (टैक्स) कम चुकाना भी इस ही अतिचार (दोष) में गभित है। राजा की आज्ञा के विरुद्ध व्यवहार करना अथवा राज्य के नियमों का उल्लंघन करना एवम् राज्य नियम को संपन करने वालों को सहायता देना और सहायता देकर प्रसन्न होना भी इस ही अतिचार में सम्मिलित किया गया है।

(४) हीनाधिकमानोन्मानातिचार .— नापने के नेर पायनी (माँप) आदि को मान कहते हैं और तोलने के तोले, नेर, छटाक आदि को उन्मान कहते हैं इन नाप तोल के बाटों को कमती बढ़ती रगना अर्थात् कमती में दूसरे को देना और बढ़ती से देना इस प्रकार के छल कपट के प्रयोग करने को अतुर्प हीनाधिकमानोन्मानातिचार कहते हैं। इससे राजदण्ड भी मिनता है।

(५) प्रतिरूपक व्यवहारातिचार — कृत्रिम सोने व चाँदी आदि के द्वारा टगने का व्यवहार करना अर्थात् गरी वस्तु में सोँदी वस्तु मिलाकर धमनी के रूप में बेचना जैसे दूध में पानी, घी में तेल, सोने में ताँबा मिलाकर दूध, घी, और मोना (स्वर्ण) कहकर बेचना सो पञ्चमप्रतिरूपकव्यवहारातिचार है।

विशेष:— “स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा” ग्रन्थ की संस्कृत टीका में कहा है:—

“ताम्रेण घटिता रुप्येन च, सुवर्णेन न घटितास्तान्मदप्यामाय-
घटिता द्रम्माः (Greek) तत् हिरण्यमुच्यते, तत्सदृशाः केनचित् लोका-
बंचनार्थं घटिता द्रम्माः प्रतिरूपकाः उच्यते तैः प्रतिरूपकैः असत्य-
नाणकैः (Coins) व्यवहारः अथ विषय प्रतिरूपक व्यवहारः ॥”

भाषार्थ — अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना या ऐसी जाने अन्य (दूसरे) को मिलादेना अथवा अन्य में करा देना। ऐसे अनेक-
पूर्ण बावों के करने से राज्यदण्ड के अतिरिक्त मोक्ष में विरुद्ध और अविश्वसनीय हो जाता है।

विशेष:— बिना कार्य में मोक्ष की प्रति आशयकता होने की कारणों बावों ही होती अथवा मोठे रुपये इत्यादि उतने में देन करना जैसे मोठे बावों के देने हुए दूसरे को हिरण्य कहते हैं। बिना में मोक्षों को देने के लिये उन ही के अभाव दूसरे रुपये देना दिने मोक्षों खूँटे रुपये (अथवा मोठे रुपये में) इत्यादि देन करना प्रति रूपक व्यवहार है। अतएव धर्मो आशय को उचित है कि

उपयुक्त पांचो अनिवार यानी दोषो से बचे क्योंकि निर्दोषप्रत पालने से इन लोक में विश्वास और व्यापार बढ़ावेगा, यश पावेगा और ऐसा पाप नहीं बर्षिगा जिनमें अशुभ गनिका बन्ध हो और परलोक में दुःख उठावे ।

(४) ब्रह्मचर्याणुग्रत का लक्षण :-

“उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः सङ्गाद्विरत्तरतिविरत
विरत इति चतुर्थमणुग्रतम्” ।

अर्थ - उपात्त (विवाहित) और अनुपात्त (प्रवियहित) परस्त्रियों के सम्बन्ध में विरत रहना सो विरता विरत श्रावक का चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुग्रत लक्षण है ।

“न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यात्
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोष नामापि ॥५६॥ [रत्न. ३]

अर्थ - जो न तो परदारों पर चले जाय और न परान् गमयति च पापभीतेर्यात् स्वदार से स्वदार निवृत्ति चर्चान् स्वस्त्री सन्तोष वन होता है -

स्वार्थी बनित्वा हीय जो या में कर सन्तोष ।

त्याग करो पर कामिनी या तम और न दोष ॥५॥

अर्थ - जो परदारों निवार निवृत्त हमें विरग्य युधिहीन मड़ेरे ।
सुन्दर की जिन पात्र देवि सुखी उर ककर होत घोरे ॥
हे जिनकी यत् देव बडे नितकी दम भी अपकीप्त हैरे ।
हरे परकीह विरे दृदशङ्क करे शत लख्ड मुखाचन करे ॥

अर्थ - जो सुन्दर की पात्र देवि सुखी उर ककर होत घोरे ॥ हे जिनकी यत् देव बडे नितकी दम भी अपकीप्त हैरे । हरे परकीह विरे दृदशङ्क करे शत लख्ड मुखाचन करे ॥

जो परदारों निवार निवृत्त हमें विरग्य युधिहीन मड़ेरे ।

त्याग करो पर कामिनी या तम और न दोष ॥५॥

स्वार्थी बनित्वा हीय जो या में कर सन्तोष ।

त्याग करो पर कामिनी या तम और न दोष ॥५॥

अर्थ :- पर (स्वस्त्री के अतिरिक्त) अन्य स्त्रियों को माता, वहिन (भगिनी) पुत्री के समान देख करके अपनी स्त्री से ही सन्तोषित रहना चौथा ब्रह्मचर्या-व्रत नाम से कहा जाता है ।

परस्त्री स्वर्ग के मार्ग में अर्गला (आगल या आड) वत् है, नरक गति ले जाने के लिये सखी स्वरूप है, कृष्णवर्ण के महाभयंकर सर्पराज की दृष्टि समान बुरा ही करने वाली है और दूर नहीं होने वाली अग्निशिखा ही है ।

विशेष :- पुरुषों को अपनी विवाहित स्त्री में और स्त्री को अपने स्वकीय विवाहित पति में ही सन्तोष रखना चाहिये ।

आया :- पच्वेसु-इच्छि सेवा-अणङ्ग क्रीडा सदा विवज्जंतो ।

भूलपडब्रह्मचारी जिणेहिभणिदो पवयणग्निह् ॥ [स्वा. टीका]

पर्व में स्वस्त्री की सेवा एवम् अनङ्गक्रीडा भूलकरके भी ब्रह्मचर्याव्रत ही करता है; ऐसा जिनेन्द्रदेवने अपने प्रवचन में कथन किया है ।

भावार्थ :- एक माह में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी पर्व दिवस महा मुनियों द्वारा बताया गये हैं; इसके अतिरिक्त विशेष रूप से तीन अष्टाह्निका महापर्व, व तीन ही दशलक्षणदिवस तथा तीन ही सोलहकरण (षोडसकारण) और तीन ही रत्नत्रय दिवसों में शीलव्रत पालना चाहिये ।

अष्टाह्निकापर्व :- अषाढ शुक्ला अष्टमी (८) से पूर्णिमा (१५) तक तथा अतिशुक्ला अष्टमी (८) से पूर्णिमा (१५) तक और फाल्गुण शुक्ला अष्टमी (८) से पूर्णिमा (१५) तक अष्टाह्निका पर्व होता है ।

षोडसकारणपर्व :- भाद्रपद कृष्णा प्रतिपदा [१] से भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा [१५] तक तथा माघ कृष्णा प्रतिपदा [१] से माघ शुक्ला पूर्णिमा [१५] तक और चैत्र कृष्णा प्रतिपदा [१] से चैत्र शुक्ला पूर्णिमा [१५] तक षोडसकारण (सोलहकारण) पर्व होता है ।

दशलक्षणपर्व :- भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी [५] से भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी [१४] तक तथा माघ शुक्ला पञ्चमी [५] से माघ शुक्ला चतुर्दशी [१४] तक और चैत्र शुक्ला पञ्चमी [५] से चैत्र शुक्ला चतुर्दशी [१४] तक उत्तमप्रमादि दशलक्षण पर्व दिवस होते हैं ।

रत्नत्रयपर्व :- भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी [१३] से पूर्णमासी [१५] तक तथा माघ शुक्ला त्रयोदशी [१३] से माघ शुक्ला पूर्णमासी [१५] तक और चैत्र

शुक्ला श्रमोदशी [१३] से चैत्र शुक्ला पूर्णमासी [१५] तक रत्नत्रय पर्व दिवस होते हैं ।

उपर्युक्त तीनों अष्टाह्निकापर्व तीनों षोडशकरण पर्व तीनों दशलक्षणपर्व और तीनों रत्नत्रय पर्व एवम् प्रत्येक माह की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी को ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक को पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये यानी स्वस्त्री से भी कामकीड़ा तथा कामोद्दीपक वार्तालाप भी नहीं करना चाहिये ।

“स्वनायामपि निविण्णः सन्ततेः कुरुते रतिम् ।

शीतं नुनुत्सुर्वा वहनी धह्मचारी न पर्वणि ॥६५॥ [धर्म स. श्रावका१२]

अर्थ :- स्वदार सन्तोषव्रत पालन करने वाले ब्रह्मचर्याणुव्रतधारी पुरुषों को पर्व दिवसों में अपनी स्त्री से विरक्त रहना चाहिये पर्व दिवसों में भी विषयों का सर्वथा परित्याग करना चाहिये ।

भाषार्थ :- जिस प्रकार से शीत को बाधा दूर करने के लिये पुरुष अग्नि को सेवन करता है न कि हाथ जलाने के लिये, उसही प्रकार से स्त्री का सेवन इमनिये किया जाता है कि यदि हमारे सन्तान हो जावे तो हम गृहस्थ का भार उस पर रखकर निवृत्ति मार्ग भोक्षमार्ग में चले जावे न कि कर्म बन्धन के लिये विषय सेवन किया जाता है, जिससे आत्म कल्याण न करने मसार में भ्रमण करता रहे ।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचारों का वर्णन :-

स्वदारसन्तोषव्रतस्यातीचाराः पञ्च भवन्ति । परविवाह करणं, इत्वरिकापरिगृहीतागमनं, इत्वरिका परिगृहीतागमनं, अनङ्गकीड़ा, कामतीव्यामिनिवेशश्चेति । तत्रसद्वेद्यस्य चारित्र्यमोहस्य चोदयाद्वि-
वहनं विवाहः परस्य विवाहकरणं परविवाहकरणं । ज्ञानावरणक्षयो-
पशामादापाशितकलागुणज्ञतया चारित्र्यमोहस्त्रीवेदोदय प्रकर्षादंगी-
पाद् नामोदयावष्टमाञ्च परपुरुषानेतीति इत्वरिका या गणिका-
त्वेन वा पुंश्चतोत्वेन परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरि-
गृहीता, तस्यां गमनमित्वरिकापरिगृहीतागमनं । या पुनरेकपुरुष-
भर्तृका सा परिगृहीता, तस्यां गमनमित्वरिका परिगृहीतागमनं ।
अङ्ग प्रजननं योनिश्च ततो जघनादन्यत्रानेकविध प्रजननविकारण

रतिरनङ्गक्रीडा कामस्य प्रवृद्धः परिणामोऽनुपरतवृत्यादिः कामतीव्राभिनिवेशः इति ।

अर्थः— इस स्वदारसन्तोषव्रत के पाँच अतिचार होते हैं । (१) पर विवाह करण (२) इत्वरिका अपरिगृहीतागमन (३) इत्वरिका परिगृहीतागमन (४) अनङ्गक्रीडा और (५) कामतीव्राभिनिवेश ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं ।

साता वेदनीय कर्म और चारित्र्यमोहनीय कर्म के उदय से जो पञ्चाग्नि और देवो की साक्षी पूर्वक पाणिग्रहण किया जाता है उसे “विवाह” कहते हैं । (१) परविवाह करण.— दूसरे का विवाह करना परविवाहकरण कहलाता है । (२) इत्वरिका अपरिगृहीतागमन :— ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने से जो कलागुण आदि प्राप्त हुए हैं उनके कारण तथा चारित्र्यमोहनीय कर्म के अन्तर्गत स्त्रीवेद कर्म के विशेष उदय होने से और अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के उदय की प्राप्ति होने से जो पर (दूसरे) पुरुषों के समीप जाती है उसे इत्वरिका कहते हैं । वेश्या होकर अथवा व्यभिचारिणी बनकर पर पुरुषों के समीप जाने का जिसका स्वभाव है, जिसका कोई स्वामी नहीं है उसे इत्वरिका अपरिगृहिता कहते हैं; उसमें गमन करना इत्वरिका अपरिगृहिता गमन कहलाता है ।

विशेषः— विनापरणी हुई स्त्री जैसे कन्या, दासी, वेश्या आदि से सम्बन्ध रखना यानी रागात्मक रूपसे स्त्रीत्व सम्बन्ध रखना ।

गमनः— “जघनस्तनं व दंतनिरीक्षणं, संभाषणं हस्तभ्रूकटाक्ष-दिसंज्ञाविधानं इत्येवमादिकं निखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनं इत्युच्यते” । [ग्रहस्य धर्म ६५ पृष्ठ]

अर्थः— परस्त्री व वेश्यादि के जघन, स्तन व दाँत आदि अङ्गों का देखना, उनसे प्रेमपूर्वक (विषय भोगरूपी भावों से) बातचीत करना, हाथ भी के कटाक्ष वगैरह से संकेत करना उसको गमन कहते हैं ।

(३) इत्वरिकापरिगृहीतागमन :— जिसका एक पुरुष स्वामी हो वह परिगृहिता कहलाती है अथवा अन्य की परणी हुई स्त्री व्यभिचारिणी हो उससे सम्बन्ध रखना यानी लेने देने, बोलने, बैठने उठने तथा उसके साथ कुशील सेवन करने की छोटी चेष्टा करना ब्रह्मचर्याणुव्रत का तीसरा परगृहीतेत्वरिकागमन नामका

प्रतिचार है ।

(४) अनङ्गश्रीघ्रातिचार :- उत्पन्न होने के स्थान को अर्थात् योनि को अङ्ग कहते हैं, उस स्थान विशेष को (निश्चित भोग स्थानको छोड़कर किसी भी दूसरी जगह शरीर में काम प्रीटा करना अनङ्गश्रीघ्रा नामका प्रत्यक्षचर्मव्रत का चतुर्थातिचार कहलाता है ।

भावार्थ :- अपनी विवाहिता स्त्री के साथ अथवा अन्य किसी पुरुष एवं नपुंसक को स्त्री के समान मान करके काम सेवन के अङ्गों को छोड़ कर अन्य अङ्गोपाङ्गों से काम चेष्टा करनी सो अनङ्ग श्रीघ्रा नामकातिचार है ।

(५) कामतीव्राभिनियेश :- कामवासना के अत्यन्त बड़े हुए परिणामों को अर्थात् काम सेवन से तृप्त न होना सदा उसही में परिरमण करते रहना (लगे-रहना) आदि को कामतीव्राभिनियेश नामका ब्रह्मचर्मणुव्रत का पञ्चमातिचार है ।

भावार्थ :- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचार न रखाकर स्वकीया (अपनी विवाहित स्त्री) से भी काम सेवन की अत्यन्त लालसारखता यानी काम की तीव्रता रखना अर्थात् अपनी स्त्री के साथ भी अत्यन्त तृष्णा (लालसा) में होकर काम सेवन करना और तृप्तता न पाना ब्रह्मचर्मणुव्रत का कामतीव्राभिनियेश नामका पञ्चमातिचार है ।

विशेष :- वास्तव में जब स्त्री रजस्वला हो उसको शुद्ध हो जाने के बाद ही सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से गर्भाधानादि क्रिया करनी चाहिये । शेष दिनों में सन्तोषित रहना चाहिये ।

ब्रह्मचर्मणुव्रत शरीर की रक्षा एवं आत्मिक उन्नति का साधक है क्योंकि शरीर में वीर्य अपूर्व रत्न है, इसको यथा सम्भव रक्षा करनी अत्यन्त आवश्यक है । स्त्री सेवन के भाव मात्र करने से ही वीर्य रणी रत्न मलीन हो जाता है ।

(५) परिग्रहपरिमाणानुव्रतका लक्षण: -

"धनधान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृत परिच्छेदो गृहीतिपञ्चममणुव्रतम्" ।

अर्थ :- अपनी इच्छानुसार धन धान्य क्षेत्र आदिका परिमाण या मर्यादा करना सो गृहस्थ का पञ्चम परिग्रहपरिमाणुव्रत कहलाता है ।

परिग्रह परिमाणानुव्रत के पञ्चातिचारों का वर्णन :-

परिग्रहविरमणव्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति । क्षेत्रवास्तुहिरण्य सुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यमिति, तत्र क्षेत्रं शस्याधिकरणं, वास्तु अगारं, हिरण्यं रुप्यादिव्यवहारप्रयोजनं, स्वर्णं प्रतीतं (विख्यातं), धनंगवादि, धान्यं वीह्यादि, दासी दासं, भृत्यस्त्रीपुंवर्गः, कुप्यंक्षौ-मकार्यसकौशेयचन्दनादि एतेषु एतावानेव परिग्रहोममनातोऽन्य इति परिच्छिन्नात्प्रमाणाश्क्षेत्रवास्त्वादि विषयादतिरेकः, अतिलोभवशा-त्प्रमाणातिरेक इति ।

अर्थ :- इस परिग्रह परिमाणानुव्रत के पांच अतिचार हैं । क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य सुवर्ण, धन धान्य, दासी, दास और कुप्य ये पांच अतिचार हैं । जिनमें धान्य पैदा होता है ऐसे खेतों को क्षेत्र कहते हैं, मकान को वास्तु कहते हैं, रुपया पंसा आदि जिससे संसार का व्यवहार चलता है उन्हें हिरण्य कहते हैं । सोने को सुवर्ण कहते हैं । गाय, भैंस, घोडा, बकरी आदि जानवरों को धन कहते हैं । गेहूँ, जौ आदि को धान्य कहते हैं । नोकर रहने वाले स्त्री पुरुषों के समूह को दासी दास कहते हैं । कपड़ा, कपास, कोसा, चन्दन आदि घर की सामग्री को कुप्य कहते हैं । परिग्रहपरिमाणानुव्रत धारण करने वाले को इन सब चीजों का परिमाण कर लेना चाहिये । मैं इन चीजों को इतनी रक्खूंगा इससे अधिक नहीं । इस प्रकार से परिमाण कर लेने पर अतिशय लोभ के वश होकर उस परिमाण का उल्लंघन (अतिरेक) करना सो परिग्रहपरिमाण व्रत के अतिचार है ।

(१) क्षेत्र वास्तु परिग्रहपरिमाणातिचार :- क्षेत्र (खेत, जमीन यानी धान्य के पैदा होने की जगह) तथा वास्तु (घर, दुकान, कोठा व धान्य भरने की जगह) इन दोनों क्षेत्र एवम् वास्तु की कीगई मर्यादा को लोभ वश बढ़ा लेना सो क्षेत्र वास्तु नाम का परिग्रह परिमाणव्रत का अतिचार है ।

(२) हिरण्यसुवर्ण परिग्रहपरिमाणातिचार :- हिरण्य (सोना, चांदी, ताँबा आदि के बने हुए सिक्के तथा सुवर्ण यानी सोना आदि की कीगई मर्यादा को लोभ वश बढ़ालेना अर्थात् किसी ने दस हजार रुपये तथा सो तोला सोने को रखने का परिमाण रक्खा और सोने का भाव घटता देखकर रुपये से सोना खरीद कर बढ़ा लेवे व सोने का भाव बढ़ा हुवा देखकर रुपया बढ़ा लेवे सोही अतिचार है । एवं किन्ही आचार्यों ने अहिंसाणुव्रत में गभित किया है ।

1) ...
 2) ...
 3) ...
 4) ...
 5) ...

... का ...
 ... विराम

...
 ...
 ...
 ...

...
 ...
 ...

...
 ...
 ...

भुतो, भुंजावियी, भुज्जिञ्जंतोवा, समणुमाएणदो, तस्स मिच्छा मे
दुक्कडं" ॥६॥

अर्थ :- पाँच महाव्रतों से जुदा छट्ठा अणुव्रत रात्रि भोजन से विरमण है, प्राणातिपातादिक (महाव्रतों) की तरह इसमें पूर्णरूप से विरति का अभाव है इसलिये अणुव्रत कहा है क्योंकि इस रात्रि भोजन विरमणव्रत में रात्रि में ही भोजन का त्याग होता है, दिन में नहीं होता। दिन में यथाकाल भोजन में प्रवृत्ति सम्भव है इसलिये अणुव्रत है, वह रात्रि भोजन विरमण व्रत, भात दालादि असन, दूध, छाछ, जलादि पान मोदकादि खाद्य, रुच्यत्पादक, सुपारी इलायची आदि स्वाद्य, इस प्रकार चार प्रकार का है। उक्त चार प्रकार का आहार तिक्त (चरपरा) कटुक (कड़वा) कषाय (कसायला) आमिल (खट्टा) मधुर (मीठा) और लवण (खारा) रूप होता है; वह खाने पीने योग्य चिन्त-वन किया गया, आयोग्य भी आहार खावे ऐसा कहा गया हो, अयोग्य आहार को भी खाने के लिये काय (शरीर) से स्वीकारता दी गई हो और दुःस्वप्नित अर्थात् स्वप्न में खाया, इस प्रकार रात्रि में स्वयं खाया हो, खिलाया हो या खाने की अनुमोदना की हो इससे सम्बन्ध रखने वाला मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

रात्रि भोजनत्याग व्रत के समर्थन में जनेतर ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों के प्रमाणों का दिग्दर्शन कराते हैं:-

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।

संध्योरुभयोश्चैव सूर्ये चैवोच्चिरोदिते ॥२८०॥

[मनुस्मृति अध्याय मृतीय]

अर्थ :- रात्रि राक्षसी मानी जाती है, अतः रात्रि के समय में, दोनों सन्ध्याओं में और सूर्य के उदय हुए थोड़ी देर हुई हो तब श्राद्ध न करे।

श्री कृष्ण ने महाभारत में भी बताया है कि :-

ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः ।

तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते ॥१॥

मोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिरः ।

तपस्विना विशेषेण गृहिणां च विवेकिना ॥२॥ [महाभारत]

अर्थ :- जो उत्तम बुद्धि के धारक मनुष्य हैं वे रात्रि में सदाही उप प्रवार के

ब्राह्मणों का त्याग करने हैं; उनके एक मास में पन्द्रह दिन के उपवासों का फल होता है ।

हैं मुग्धिष्ठिर । जो तपस्वी है अथवा हेतुपादेय का ज्ञान गृह्य है, उसे रात्रि के समय मास तोर पर जल पान भी नहीं करना चाहिये ।
मद्यमांसाशनं रात्री भोजनं कन्द भक्षणम् ।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थं यात्रा जपस्तपः ॥ [परमगुण रविनेलाचार्य]

अर्थ :- जो मनुष्य मद्यपीते हैं व मांस खाते हैं रात्रि भोजन करते हैं तथा जमीकन्द खाते हैं, उनका जप, तप, तीर्थ यात्रादि करना वृथा अर्थान् निष्फल है।
 जन्म धर्म में और भी कहागया है :-
कुगुरु, कुदेव, कुवृष की सेवा, अनर्थ दण्ड, अधम व्यापार ।
जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, चोरी, परतियहिंसन दान शिकार ॥

व्रस की हिंसास्थूल असत्य, अरु, धिनछानो जल, निशि आहार ॥१॥
 यह सत्रह अनर्थ जग माँहि, यावज्जीव करो परिहार ॥१॥

अर्थ :- (१) कुगुरुसेवा (२) कुदेवसेवा (३) कुघमसेवा (४) अनर्थदण्ड (५) छोटा व्यापार (६) जुवा खेलना (७) मांस खाना (८) मदिरा पान करना (९) वेश्या गमन (१०) चोरी करना (११) परस्त्री सेवन करना (१२) हिंसा के उपकरणों का दान करना (१३) शिकार खेलना (१४) द्विन्द-यादि व्रस जीवों की हिंसा करना [१५] स्थूल भूँटवोलना [१६] विना छना पानी पीना [१७] रात्रि भोजन करना दुनियाँ में ये सत्रह अनर्थ हैं इन्हें जिन्दगी भर के लिये त्याग देना चाहिये ।

- अणुव्रतों का वर्णन सम्पूर्ण हुआ :-
 शील सप्तक वर्णनम् :-

स्ववीयसोविरतिमभ्युपगतस्य श्रावकस्य व्रत विशेषो गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रत चतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते । दिग्विरतिः, देशविरतिः अनर्थदण्डविरतिः सामायिकं प्रोषधोपवासः उपभोगपरिभोगपरिमाणं प्रतिविसंविभागरश्चन्ति ।

अर्थ :- जो श्रावक अपने व्रतों को स्थिर रखना चाहता है उसे शील और चार शिक्षाव्रत इन सातों विशेष व्रतों को पालना

प्रती को शील कहते हैं । [१] दिग्विरति, [२] देश विरति, [३] अनर्थ वण्ड विरति [४] सामायिक [५] प्रोपघोपवास [५] उपयोग परिभोगपरिमाण और अतिथिसंधिभाग व्रत ये इन सात शीलों के नाम हैं ।

तत्र प्राची, अप्राची, उदीची, प्रतीची, उर्ध्व अधो विदिशश्चेति । तासांपरिमाणंयोजनादिभिः पर्वतादि प्रसिद्धामिज्ञानंश्च ताश्च दिशो दृष्टपरिहारः क्षुद्रजंतुभिराकुलाः अतस्ततो बहिनं यास्यामीतिनिवृत्ति दिग्विरतिः निरवशेषतो निवृत्ति कर्तुमशक्नुवतः शक्त्याप्राणिवध- विर तं प्रत्यागूर्णस्यात्र प्राणनिमित्तं यात्रा भवतु मा वा सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वै परिमिताद्विग्वधेवंहिनंयास्यामीति तिर्गगतिप्रमः प्रणिधानादहिसाद्यणुव्रतधीरणोऽप्यस्य परिगणिताद्विग्वधेवंहिमं- नोवाक्काययोगः कृतकारितानुमतविकल्पं हिंसादिसर्वं निवृत्तिरिति महाव्रतं भवति ।

अर्थः— [१] पूर्व दिशा [२] पश्चिम [३] उत्तर [४] दक्षिण [५] ऊर्ध्व [ऊपर] [६] अधो [नीचे] [७] ईशान [८] प्राग्नेय [९] नैऋत्य [१०] पौर वायव्य ये दश दिशाएँ कहलाती हैं ।

(१) दिग्प्रतक्ता स्तरणः— पर्वत, नदी आदि प्रसिद्ध चिन्हों के द्वारा घण्टा योजनादि के द्वारा उन दशों दिशाओं का परिमाण कर लेना और यह नियम कर लेना कि ये सब दिशाएँ जो हटाये न जा सकें ऐसे छोटे छोटे दीवों में भरी हुई हैं इनलिये इस किये हुए परिमाण के बाहर जीवन पर्वत में नहीं जाईगा इस प्रकार परिमाण के बाहर जाने जाने का त्याग करना दिग्विरति है । जो शायक सम्पूर्ण प्राणों का त्याग नहीं कर सकता इनलिये जानती रक्ति के अनुगुण प्राणियों की हिंसा का त्याग करना पाठ्या है यह यह समझना है कि प्राणों के लिये साथ ही घण्टा न हो, भारी में भारी प्रयोजन से काम होने पर भी विद- नित दिशाओं के बाहर नहीं जाईगा ऐसा प्रतिज्ञा करने जाने तथा प्रतिज्ञा आदि प्राणों अनुव्रतों को धारण करने जाने शायक के निवृत्ति दिशाओं के परिमाण के बाहर मन बंधन, वाय घोर वृत्त, वाग्नि, अनुमोदना के हिंसादि कर्मों को करने का पूर्ण रीति में त्याग ही जाना है इनलिये पर्वतों के बाहर न जाने के लक्ष्य महाव्रतः समझा जाता है ।

भाषार्य :- सासारिक, व्यापारिक या व्यवहारिक कार्य के लिये जन्मपदों दिशाओं में जाने की; ऐसे ही अन्य रीति से पत्रादि द्वारा व्यवहार की जो प्रतिज्ञा लेनी उसे दिग्गत कहते हैं। तीर्थ यात्रा व धर्म सम्बन्धी का के लिये मर्यादा नहीं होती है, जैसा कि "जानानंद श्रावकाचार" में कहा है कि:- "क्षेत्र का प्रमाण सावद्य [पाप] योग के अर्थ करे, धर्म के अर्थ नहीं करे। गृहस्थी को अपनी तृष्णा को रोकने के लिये यह व्रत करना चाहि

जहाँ तक उसको व्यापारादिक करना हो वहाँ तक की अपनी इच्छानुसार सी वाँध ले फिर उस सीमा (हृद) के बाहर जाने की चाह (इच्छा) न करें। ज किसी को भारत वर्ष के सिवाय अन्य यूरोपीय आदि देशों में भी व्यवहा (व्यापार) करना है तो जहाँ तक आवश्यकता हो वहाँ तक रखले, शेष का त्याग करे। चार दिशा (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण) चार विदिशा (ईशान, नैऋत्य, आग्नेय, वायव्य) उर्ध्व (ऊपर - आकाश) अधो (नीचे) यानी १८ दिशाओं में कोस व मीलों के प्रमाण से व प्रसिद्ध स्थान जैसे नदी, पर्वत आदि की हृद (सीमा) निश्चित करता हुआ प्रतिज्ञा ले ले। जैसे - यह प्रतिज्ञा लेवे कि ८ (आठ) दिशाओं में हर एक में १००० (एकहजार) कोस की तथा ऊपर नीचे पाँच पाँच कोस की हृद रखती अथवा यों प्रमाण करे कि पूर्व में अमुक नदी, पश्चिम में अमुक पहाड़, दक्षिण में अमुक नगर, उत्तर में अमुक पहाड़ी ऐसे ही विदिशा व ऊपर, नीचे का प्रमाण करे। जिस जगह जो जन्म को सतह हो उससे यदि किसी पर्वत पर चढ़े तो, यदि पाँच कोस की मर्यादा तो उतना ही जावे। वैसे ही उससे नीचे किसी स्थान व सन्दक में जितने मर्यादा हो उमगे अधिक न जावे।

इस दिग्गत में बड़ा भारी लाभ यह होता है कि जहाँ तक सीमा रख है उसके आगे जाने, लेन देन करने का त्याग होने से इच्छा रुक जाती। और लोभादि के पाप घटने हैं। कपाप घटाने से ही भद्र परिणामों की उत्पत्ति होती है और अन्न में ऐसा जीव मुक्ति का अधिकारी होता है। इस में ही इस श्राव का भन्ना है।

दिग्गत के पाँच प्रतिचारों का वर्णन :-
दिव्यरत्नपात्रतस्यपञ्चातिचारा भवन्ति :-

क्रमः तिर्गंगतिः

तत्र पर्वत महान्

धोतिक्रमः भूमिद्विगतिः

नादिभिः परिच्छिद्य

मिदं मया योवन

दिग्विरमणवतस्य

स्यगृहांतरस्यत्र

तन्निवृत्तिदेशदिग्दि

अर्थः- दिग्दि

अथोतिक्रम (ः) तिर्गंगतिः

अतिचार होते हैं :

(१) उध्वादि

से ऊपर की

कहते हैं।

भावायः- उल्लंघन कर

जावेगा।

(२) अतिचार

घन करके

भावायः- उल्लंघन

को

(३) अतिचार

राष्ट्र के

।
की
दा
।गे
उमे

।च-
। व्रतो

।र अना-

।दी।

।लवत का लघन करना
और विषयों में अत्यागति

। इस तालाब के भीतर मकान
देर तक बाहर अन्य
र देना दे । इस एक

। है.

(४) क्षेत्रवृद्धिप्रमातिचार :- योजनादि के द्वारा जो सब दिशाओं का परिमाण किया था उसके आगे जाने के लिये भी लोभ के कारण आकांक्षा रचना क्षेत्र वृद्धि है ।

भावार्थ :- दिव्यत में नियत की हुई मर्यादा को पश्चिम आदि दिशाओं से घटा कर पूर्वादि दिशाओं की ओर बढ़ा लेना, यह क्षेत्र वृद्धि अतिचार है । जैसे किसी मनुष्य ने पूर्व और पश्चिम की तरफ पाँच पाँच सौ योजन की मर्यादा की कारणवश उसे पूर्व दिशा की ओर आठ सौ योजन जाने का काम पड़ा, तब लोभ बश उसने पश्चिम की ओर से योजन न घटा कर पूर्व की ओर मिला लिया (इस प्रकार एक हजार योजन की दोनों तरफ की मर्यादा थी, सो तो तोड़ी नहीं; इसलिये तो व्रत का अभङ्ग (भंग नहीं हुआ) परन्तु पूर्व की तरफ की मर्यादा बढ़ा लेना, पश्चिम की मर्यादा कम कर लेना यह व्रत भङ्ग है क्योंकि मर्यादा करते समय पूर्व पश्चिम की मर्यादा बढ़ाने घटाने का अभिप्राय नहीं था और अब बढ़ाघटा लिया, इससे यह अतिचार हो गया क्योंकि भूल में व्रत की अपेक्षा रखकर मर्यादा का हल चल कर लिया इसलिये भङ्गा भङ्ग रूप अतिचार हो गया ।

अगर असाधधानी से क्षेत्र की मर्यादा का उल्लंघन हुआ होवे तो वही से शीघ्र ही लौट आना चाहिये । यदि मर्यादा का जान होवे तो कदापि आगे नहीं जाना चाहिये और अन्य को भी नहीं भेजना चाहिये । कदाचित् आगे चला भी जावे तो जो कुछ वहाँ उसको प्राप्त हो उसे छोड़ देना चाहिये । ऐसा अन्य शास्त्रकारों का भी मन्तव्य है ।

(५) स्मृत्यन्तराधानातिप्रमातिचार :- मीने योजनादिकों के द्वारा इतना इतना परिमाण किया है ऐसी स्मृति का भूल जाना स्मृत्यन्तराधान नाम का पञ्चमातिचार है । ये सब अतिचार प्रमाद से या मोह से अथवा व्यासंग से होते हैं ।

भावार्थ :- जो मर्यादा ली हो उसको स्मरण न रखना । इसका अतिचार इस तरह होगा कि जंग किमी ने १०० कोस की मर्यादा ली थी अब वह उस ओर गया और जाने ० पाद न रूढ़ने में शङ्का आगई कि मर्यादा १०० कोस की थी या ५० कोस की । ऐसी दशा में यदि ५० कोस से आगे गया तो अतिचार ही जायगा । यही आचर को उचित है कि इन व्रत को भली प्रकार पाले मन्द बुद्धि का होना अथवा थोड़े मन्दे आदि हो जाना अज्ञान कहलाता है । अत्यन्त

व्याकुल होना अथवा चित्त की वृत्ति का दूसरी तरफ लग जाना प्रमाद है । इस प्रमाद का अज्ञान से नियमित की हुई मर्यादा को भूल जाना सो सीमा की विस्मृति है । निश्चित मर्यादा स्मरण नहीं रहने से "मैंने सौ योजन की मर्यादा की थी अथवा पचास की" ऐसी कल्पना करता हुआ यदि वह पचास के आगे जायगा तो उसे अतिचार लगेगा और यदि सौ योजन के आगे जायगा तो उसे व्रत का भङ्ग होगा ।

**"अतिक्रमोमानशशुद्धिहानिः व्यतिक्रमौ यो विषयाभिलाषः ।
तथातिचारं करुणालसत्वं भंगोद्वयनाचारमिहद्वृतानि" ॥**

अर्थ :- मन की शुद्धि में, हानि का नाम व्यतिक्रम है तथा व्रतो के आचरण में प्रमाद एवं आलस्य और शिथिलता करना सो अतिचार है तथा व्रतो के भङ्ग करने का नाम अनाचार है ।

दिशेष :- श्री आचार्य अभितगति द्वारा भी सामायिक पाठ में अतिचार अनाचार के भेद :-

क्षतिमनः शुद्धि विधे रतिक्रमं

व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम् ।

प्रमोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं,

वदन्त्यचारमिहातिसक्ताम् ॥८॥

अर्थ :- मन की शुद्धि में क्षति होना अतिक्रम है । शीलव्रत का लंघन करना व्यतिक्रम है । विषयो से प्रवृत्ति करना अतिचार है और विषयों में अत्यानाक्ति का नाम अनाचार है ।

(२) देशव्रत :- मैं इस घर में रहता हूँ अथवा इस तालाब के भीतर मकान में रहता हूँ इसलिये इतने दिन तक अथवा इतनी देर तक इसके बाहर अन्य (दूसरे) देश में नहीं जाऊँगा इस प्रकार त्याग कर देना देशविरति है । इस एक देश विरति का प्रयोजन भी दिग्गत के समान ही समझना चाहिये ।

और भी ग्रन्थों का आधार है :-

अद्य रात्रिद्विवा वापि पक्षो मासस्तया ऋतु ।

अयनं वत्सरः कालावधिमाहुस्तपोधनाः ॥३५-७॥

[धर्म मं. प्रायश्चित्त]

अर्थ - दिग्घ्नत में की हुई मर्यादा के भीतर भी घटाकर नियम करना देशघ्नत है। जैसे - आज रात्रि में तथा दिन में, पक्ष में, महिने में, दो महिने में, छह महिने में, वर्ष आदि के द्वारा देशघ्नत की मर्यादा करनी चाहिये।

“दिग्घ्नत परिमित देशेऽवस्थानमस्ति मितसमयम् ।
यत्र निराहुर्देशावकाशिकं, तद्घ्नतं तज्ज्ञाः ॥६२॥
गृहहारिप्रामाणां क्षेत्र नदीदाव योजनानाम् च ।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धः ॥६३॥ [र. क. था.]

अर्थ :- तप में वृद्ध जो गणधरादिक देव हैं वे इस प्रकार देशघ्नत की मर्यादा का वर्णन करते हैं कि जो तुमने दिग्घ्नत की मर्यादा की है, उसमें भी रोना (प्रतिदिन) का नियम करो, अपनी शक्ति के अनुसार गमनागमन घटाओ। जैसे - आज मैं अमुक ग्राम, अमुक मोहल्ला, अमुकधर, कटक (सेना) या अमुक योजन तक ही जाऊँगा। अथवा :- महल, शहर, मन्दिर, धर्मशाला, बाग, बगीचा वन प्रवेश इत्यादि में इतनी देर तक इसके बाहर नहीं जाऊँगा इस प्रकार घड़ी, घण्टा, दिन, सप्ताह आदि तक दिग्घ्नत में की हुई मर्यादा घटाना देशघ्नत कहलाता है।

देशघ्नत के पाँच प्रतिचारों का वर्णन :-
तस्य पञ्चातिचारा भवन्ति । आनयनंप्रेष्यप्रयोगः शब्दानुपातः
रूपानुपातः पुद्गलक्षेप इति । तत्रात्मना संकल्पितदेशस्थितस्य प्रयो-
जन वशाद् यदकिंचिदानयेत्याज्ञापनमानयनं । परिच्छिन्नदेशाद्विहि-
स्वयमगत्वाऽन्ये प्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेतव्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोगः
व्यापारकरानुपुस्यानुद्दिश्याभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः । मम-
रूपनिरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयतीति स्वाङ्गदर्शनं रूपानुपातः । दिग्वि-
कर्मकरानुद्दिश्य ह्योष्टपापाणाद्विपातः पुद्गलक्षेप इति । दिग्वि-
रतिः सार्वकालिकी देशविरतियंयाशक्तिकाल नियमेनेति ।

- (१) पुद्गल क्षेप नाम के देशघ्नत के पाँच प्रतिचार हैं ।
(२) आनयन (३) प्रेष्यप्रयोग (४) शब्दानुपात (५) रूपानुपात और
(६) दिग्विकर्मकरानुद्दिश्य ह्योष्टपापाणाद्विपातः नाम के प्रतिचार :- जितना देश अपने रहने के लिये मंगल
कर रहा है उममें रहने भी निगी प्रयोजन में मर्यादा के बाहर से तुम यह न
घासों ऐसी आज्ञा देना वनों दिशाओं में की हुई मर्यादा को

की गई मर्यादा का किसी प्रयोजन वश लाभ या मोह या स्वार्थ वश कम बढ़ कर लेना यह आनयन नाम का पहिला अतिचार है ।

(२) प्रेष्य प्रयोगनाम का अतिचार :- जितना देश नियत कर रखा है उसके बाहर स्वयं न जाकर भी किसी दूसरे को भेजकर ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना अथवा स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर अपनी इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये अपने नोकर मित्र या सम्बन्धी अथवा कुटुम्बीजन को की हुई सीमा से बाहर भेजकर अपनी अभीष्ट वस्तु को मर्यादा के बाहर से मँगवा लेना प्रेष्य प्रयोग नाम का दूसरा अतिचार है ।

(३) शब्दानुपात नाम का अतिचार :- मर्यादा से बाहर व्यापार करने वाले आदि पुरुषों की ओर लक्ष्य रख कर ही अर्थात् उन्हें अपना मुख्य अभिप्राय बतलाने के लिये ही खाँसना, खखारना, ताली पीटना, चुटकी बजाना आदि शब्दानुपात के द्वारा अपना मन्तव्य समझा देना शब्दानुपातनाम का तीसरा अतिचार है ।

(४) रूपानुपात नाम का चतुर्थातिचार :- देशव्रत की, की हुई मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोग भेरे रूप को यानी मुझे देख कर काम को बहुत जल्दी कर डालेंगे यही समझ कर अपना शरीर दिखाना अथवा अपने समीप बुलाने आदि के हेतु से मुँह से शब्द का उच्चारण नहीं करके, जिसको बुलाना है उसे अपना शरीर या अवयव आदि दिखाना सो यह रूपानुपातनामका चतुर्थातिचार है ।

(५) पुद्गलक्षेप नाम का पञ्चमातिचार :- अपने नोकर, चाकर अथवा काम करने वालों को अपना मन्तव्य समझाने के लिये डेला, पत्थर आदि फेंकना अथवा नियत की हुई सीमा से बाहर स्वयम् न जा सकने के कारण अपने किसी अभिप्राय से बाहर कुछ काम करने वाले लोगों को सूचना देने के लिये पत्थर आदि फेंकना पुद्गलक्षेपणनाम का पाँचवा अतिचार है ।

विशेष :- (१) पुद्गलक्षेपण (२) शब्दानुपात (शब्द श्रावण) (३) रूपानुपात (स्वाङ्गदर्शन) ये तीनों ही यदि अभिप्राय पूर्वक इच्छित पदार्थ की मिद्धि यानी प्राप्ति के लिये किये जावे तो अतिचार (दोष) हैं । यदि बिना अभिप्राय या कपट के सहज रीति से हो जावे तो अतिचार यानी दोष नहीं है । दिग्ब्रत और देशव्रत धारण करने से मनुष्य बाहरी चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने कर्त्तव्य और धर्मानुष्ठान में दत्तचित्त होता है ।

दिग्ब्रत का नियम जन्म भर के लिये होता है और देशव्रत अपनी मक्ति

के अनुसार काल की मर्यादा को (घड़ी, घण्टा, पहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष) लेकर होता है ।

देशव्रती को उचित है कि अपने परिणामों की उज्वलता के लिये व्रत को निर्दोष पालकर अपनी आत्मोन्नति में पद, पद पर बढ़ता ही जाये ।

(३) अनर्थदण्ड व्रत का लक्षण :-

प्रयोजनविनापायादानहेतुरनर्थदण्डः ।

विना ही प्रयोजन के जितने पाप लगते हों उसे अनर्थदण्ड कहते भावार्थ :- निरर्थक व्यापारों से ब्रह्म तथा स्थावर जीवों को पीडा दे अनर्थदण्ड है और इस प्रकार के निः प्रयोजन भूत व्यापार को त्याग देना अनर्थदण्डव्रत है ।

विशेष :- और आचार्यों द्वारा इस विषय में स्पष्ट किया गया है :-

अभ्यन्तरं दिग्वधेर पाथिकेभ्यः सपाप योगेभ्यः ।

विरमणमनर्थदण्डव्रतं च विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥७४॥ [रत्न. श्र.]

अर्थ :- जितनी दिशाओं की मर्यादा की हो उसके भीतर अप्रयोजन (अर्थ-मतलब) पापरूप मन, वचन, काय की क्रियाओं से विरक्त रहना यो अनर्थदण्ड त्यागव्रत है ।

पीडापापोप देशद्येदंहाद्यर्याद्विनांगिनाम् ।

अनर्थदण्डस्तत्यागोऽनर्थदण्ड व्रतं मतम् ॥६॥ [सागर चर्मावृत]

अर्थ :- अपने अथवा अपने मनुष्यों के शरीर, वचन और मन के प्रयोजन के विनाही (१) पापोपदेश (२) हिसादान (३) दुःश्रुति (४) अपध्यान और (५) प्रमादचर्या इन पाँच अप्रयोजनभूत स्वकीय हलन-चलन क्रियाओं से द्विन्द्रियादिकत्रग तथा एकेन्द्रियादिक स्थावर जीवों को कष्ट पहुँचाना (पीडा देना) अनर्थदण्ड है और इस प्रकार के अकारण निरर्थक व्यापारको (क्रिया-कलाप को) त्याग देना (छोड़ देना) ही अनर्थदण्डव्रतका लक्षण है ।

अनर्थदण्डव्रत के ५ पाँच भेद निम्नाङ्कित हैं :-

(१) अपध्यान (२) पापोपदेश (३) प्रमादाचरित (प्रमाद चर्या) (४) हिसादान और (५) अग्रभ श्रुति [दुःश्रुति] ।

सद्यः पञ्चविधः । अपध्यानं पापोपदेशः प्रमादाचरितं हिंसा-प्रदानं अग्रभश्रुतिरिति । तत्र जयपराजयवधवध्वांगुलदसर्वस्वहरणा-

दिकं कथंस्यादितिमनसाचिन्तनमपध्यानं । पापोपदेशश्चतुर्विधःक्लेश-
 शवणिज्यातिर्यग्वणिज्या वधकोपदेशः आरम्भ कोपदेशश्चेति । तत्रा-
 स्मिन् प्रदेशे दासीदासारचसुलभास्तात्रमून्देशात्रीत्वा विक्रयंकृते महा-
 नर्थलामो भविष्यतीति क्लेश वणिज्या । गोमहिष्यादीन्पशून्त्र गृही-
 त्वाऽन्यत्र देश व्यवहारे कृते सति भूरि वित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या ।
 वागुरिकशौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मि-
 न्प्रदेशे संतीति वचनं वधकोपदेशः । आरंभकेभ्यः कृषिवलादिभ्यः
 क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारंभोऽनेनोपायेनकर्तव्य इत्याह्यान-
 भारंभकोपदेशः इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः । प्रयो-
 जनमंतरेण मूर्खकुट्टनसलिलसेचनाग्निविध्यापनवातप्रतिघातवनस्पति
 च्छेदनाद्यवद्यकर्म प्रभादाचरित विपशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादि
 हिंसोपकरण प्रदानं । हिंसाप्रदानं रागादिप्रवृद्धितोदुष्टकथाश्रवण-
 ध्रावणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरिति । एतस्मादनर्थदण्डाद्विरतिः
 कार्या ।

अर्थः— (१) अपध्यान अनपदण्डवतः— हारना, जीतना, मारना, बांधना,
 झुंझों को काटना, सब धन का अपहरण हो जाना आदि जैसे हो इन प्रकार मन
 से चिंतन करना सो अपध्यान है ।

विशेषः— “वध वन्धछेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।

आध्यानमपध्यानं शासति जिन शासने विशदाः” ॥७८॥

[१ अ.]

अर्थः— राग द्वेष में दूसरों की हानि पहुँचाना या वध, बन्धन बंधना, धरने
 विसत में किसी की हानि पहुँचाने का विचार करना, किसी स्थान पर अपना
 समुदाय होने वहाँ के लोगों को उनका समभाव पर चूट बग टेंना या किसी की
 स्त्री को धौर प्रकार में समभाव उमारी हँसी उठाना, दूसरों को नोपय दिगा-
 कर या बला बराबर धार दवा धामन् मानना इत्यादि सब अपध्यान अपध-
 ण्ड है । इनका त्याग करना चाहिये ।

अर्थात् संते = किसी की दुर्गाद विषयकी, जोपण्य विषयकी किसी
 की स्त्री को हाने का समुदाय विचार करना व मोक्ष करना इत्यादि जिन

मतलब ग़ोटा ध्यान करना मो प्रपञ्चान है ।

(२) पापोपदेश :- पाप रूप बचन कहना पापोपदेश है । पापोपदेश चार प्रकार का है - (१) वनेशवाणिज्या (२) तिर्यग्वाणिज्या (३) बधकोपदेश और (४) आरम्भकोपदेश ।

(१) वनेशवाणिज्या :- अमुक देश में दामी दास बहुत मिलते हैं उन्हें बर से लेजाकर बेचने में बहुत से धनका लाभ होगा ऐसा बताना वनेशवाणिज्य है ।

(२) तिर्यग्वाणिज्या - गाय, भैंस आदि पशुओं को यहाँ से ले जाकर दूसरे देश में बेचने से बहुत सा धन मिलेगा दुगको तिर्यग्वाणिज्य कहते हैं ।

(३) बधकोपदेश :- हरिण आदि पशु मारने वालों को यह कहना कि अमुक देश में हरिण बहुत है, सूअर मारने वालों को यह कहना कि अमुक देश सूअर बहुत है और पक्षी मारने वाले को यह कहना कि अमुक देश में पक्षी बहुत है सो बधकोपदेश है ।

(४) आरंभकोपदेश :- किसान आदि आरम्भ करने वालों को यह उपदेश दे कि पृथ्वी का आरंभ (जोतना, खोदना आदि) इस प्रकार से करना चाहिए तथा जल, अग्नि वायु, वनस्पति आदि का आरंभ इस उपाय से करना चाहिए ऐसा उपदेश व व्याख्यान देना उसको आरंभकोपदेश कहते हैं । इस प्रकार पाप रूप बचन का कहना ही पापोपदेश नामा अनर्थदण्ड है ।

(३) प्रमादा चरित :- बिना ही प्रयोजन के पृथ्वी को खोदना, पानी सींच अग्नि जलाना, वायु रोकना, वनस्पतियों को काटना आदि पाप कार्यों को प्रमादा चरित कहने हैं ।

(४) हिंसादान :- विप, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चायुक, लाठी आदि हिंसा करने वाली चीजों को देना हिंसादान है ।

(५) अनुभ्रुति :- राग, द्वेष आदि के उद्रेक से दुष्ट कथाओं को सुनना, शिक्षा देना, फैलाना आदि अनुभ्रुति है ।

इन पाँचों अनर्थदण्डों का त्याग अवश्य करना चाहिये । इसे अनर्थदण्ड विरति कहते हैं ।

अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचारों का वर्णन :-

अनर्थदण्डविरमणव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति । कन्दर्पः । कौतुकच्यमौखर्ग, आसमीक्ष्याधिकरणं, उपभोगपरिभोगनर्थक्यमिति ।

चारित्रमोहोदयापादिताद्रागोद्रेकाद्यो हास्पसंयुक्तोऽशिष्टवाक्प्रयोगः
सःकन्दर्पः । रागस्य समावेशाद्धास्य (हास्य) वचनमविशिष्टवचन-
मित्येतदुभयं परस्मिन्दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं कौत्कुच्यं । अशाली-
नतया यत्किञ्चना नर्थकं बहुप्रलपनंततमौखर्यं । असमीक्ष्याधिकरणं
त्रिविधं मनोवाक्काय विषय भेदात् तत्र मानसं परानर्थककाव्यादि-
चिंतनं । वाग्भयं निः प्रयोजनकथाव्याख्यानां परपीडाप्रधानं यत्कि-
ञ्चन वक्तृत्वं च । कायिकं प्रयोजनमन्तरेण गच्छंस्तिष्ठन्नासीनो वा
सञ्चित्ताचित्तपत्र पुष्पफलछेदनभेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात् । अग्नि-
विषक्षारादिप्रदानं चारभेत । इत्येवमादि तदेतत्सर्वमसमीक्ष्या-
धिकरणं । यस्ययावदर्थेनोपभोगपरिभोगौपरिकल्पितौ तस्य तावाने
वार्थं इत्युच्यते । ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं तदुभोगपरिभोगान-
र्थक्यमिति ।

अर्थ :- इस अनर्थदण्डव्रत के पाँच अतिचार होते हैं । (१) कन्दर्प (२)
कौत्कुच्य (३) मौखर्य (४) असमीक्ष्याधिकरण और (५) उपभोगपरिभोगन-
र्थक ये पाँच अतिचार हैं ।

(१) कन्दर्पातिचार :- चारित्रमोहनीय के उदय से जो राग का उद्रेक होता है
उमसे हँसी (हास्य से) मिले हुए अशिष्टवचनों के कहने को कन्दर्प कहते हैं ।

(२) कौत्कुच्यातिचार :- राग की तीव्रता के कारण दूसरे के लिये शरीर की
दुष्ट क्रिया सहित (शरीर के छोटे विकारों सहित) हँसी के मिले हुए वचन
तथा साधारण वचन इन दोनों का कहना कौत्कुच्य है ।

(३) मौखर्यातिचार :- सभ्यता के बाहर जो कुछ अनर्थक और बहुतसा वकवाद
करना है वह मौखर्य कहलाता है ।

(४) असमीक्ष्याधिकरणातिचार :- इसके तीन भेद हैं । मन के द्वारा किया हुआ,
वचन के द्वारा किया हुआ और शरीर के द्वारा किया हुआ इस प्रकार से असमी-
क्ष्याधिकरण तीन प्रकार का है ।

- दूसरे का अनर्थ करने वाले काव्य आदिको का चिन्तन करना, मन के
द्वारा किया हुआ असमीक्ष्याधिकरण है ।

बिना ही प्रयोजन के दूसरे को पीड़ा देने की प्रधानता रखने वाले

कथाओं का व्याख्यान करना अथवा दूसरों को पीड़ा देने की प्रधानता रखने वाले व्याख्यान देना, वचन के द्वारा किया हुआ असमीदयाधिकरण है ।

बिना ही प्रयोजन के चलते हुए खड़े होकर अथवा बैठकर सन्नित व अचित्त पत्ते फूल आदि को छेदना, भेदना, कूटना, फ्रँकना तथा अग्नि विप, सार आदि का देना एवम् और भी ऐसी ही क्रियाओं को बिना प्रयोजन करना शरीर कृत असमीदयाधिकरण है ।

(५) उपभोगपरिभोगानर्थक्यातिचार :- जिसका जितने धन से व जितनी चीजों से उपभोगपरिभोग हो सकता है वह तो उसका अर्थ कहलाता है ।

आवश्यकता से अधिक संग्रह करना अनर्थक कहलाता है । इस प्रकार प्रयोजन से अधिक सामग्रियों का इकट्ठा करना उपभोग परिभोगानर्थक्यातिचार अनर्थदण्डनामक गुणव्रत के उपर्युक्त पाँच अतिचार (दोष) है ।

शिक्षाव्रत के चार भेदों का वर्णन :-

नाम (१) सामायिक (२) प्रोषधोपवास (३) भोगोपभोगपरिमाण और (४) अतियिसंधिभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं ।

(१) सामायिक शिक्षाव्रत :-

सम्यक् एकत्वेन अयनं गमनं समयः स्वविषयेभ्यो विनिवृत्य काय-
वाङ्मनः कर्मणा मात्मना सह्यतं नाद्रव्याथैन आत्मन एकत्वगमन-
मित्यर्थः । समय एव सामायिकं । समयः प्रयोजनमस्येति वा सामा-
यिकं । तच्च नियतकाले नियतदेशे च भवति । निव्यक्षिपमेकांतं
भवनं वनं चेत्यालयादिकं च देशं मर्यादीकृत्य केशवन्धं मुष्टिवन्धं
दस्त्रबन्धं पर्यकमकुरमुद्राद्यासनं स्थानं च कालमवधिकृत्वा शीतो
ष्णादि परीपहृविजयो उपतर्गं सहिष्णुमौनीहंसादिभ्यो विषयकपा-
येभ्यश्च विनिवृत्य सामायिके वतं मानो महाव्रती भवति । हिंसा-
शियु तत्रैषु अनामस्तचित्तोऽभ्यन्तर प्रत्याख्यानसंयमघातिकर्मोदग-
जनित मंदादिरतिघोरिणामे सत्यापि महाव्रतमित्युपचरति । एवं च
कृत्वा अभ्यासनापि निग्रंथनिष्कारिण एकादशा द्वाध्यापिनो महा-
व्रतविगतानां संयममात्रस्वात्परिम प्रवेयकविमान वासितोत्पन्ना
भरति । एवमुभयोऽपि निग्रंथ रूपधारी सामायिकरशादहमिन्द्र-

स्थान वासी भवति चेत्किं पुनः सम्यग्दर्शनपूतात्मा सामायिकमा-
पन्नः इति ।

अर्थः— अच्छी तरह प्राप्त होना अर्थात् एकान्तरूप से आत्मा में तल्लीन हो जाना समय है । मन, वचन, काय की क्रियाओं का अपने अपने विषय से हट कर आत्मा के साथ तल्लीन होने में द्रव्य तथा अर्थ दोनों से आत्मा के साथ एक रूप हो जाना ही समय का अभिप्राय है । समय को ही सामायिक कहते हैं अथवा समय ही जिसका प्रयोजन हो उसको सामायिक कहते हैं । वह सामायिक नियम देश और नियत समय में ही किया जाता है । जिसमें कोई उपद्रव न हो और एकान्त हो ऐसे भकान वन तथा चैत्यालय आदि सामायिक के लिये योग्य देश हो, ऐसे किसी देश में केशों का बाँधना, मुष्टिका बाधना, वस्त्रों का बाँधना, पर्यंक आसन (पद्मासन) मकर मुखासन आदि अनेक आसनों में से किसी एक आसन से बैठना इन सब की तथा उस स्थान की मर्यादा नियत कर सामायिक करना चाहिये । समय की मर्यादा बाँधकर भी सामायिक करना चाहिये और उतने समय तकशीत, उष्ण आदि का परीपह यदि आजाय तो उन्हें जीतना चाहिये । उस समय उपसर्गों को भी सहन करना चाहिये, मौन धारण करना चाहिये । इस तरह सामायिक करने वाला गृहस्थ महाव्रती रूपमें सामायिक तक के समय में गिना जाता है । यद्यपि उस समय उस सामायिक करने वाले का चित्त हिंसादि समस्त पापों में से किसी भी पाप में आसक्त नहीं रहता तथापि संयम को घात करने वाले अन्तरंग कारण प्रत्याम्बानावरण कर्म के उदय होने से मंद मंद अविरति रूप (त्याग न करने रूप) परिमाण होते हैं । अतः उमे उपचार से महाव्रत कहते हैं । इस प्रकार सामायिक करने वाला यदि अभव्य भी हो और वह निग्रंथरूप धारण कर ग्यारह अङ्ग का पाठी हो तो वास्तव में प्रमंथम भाव धारण करने पर भी बाल्य महाप्रती के पालन करने में वह उपरिम प्रंथयक के विमानों में अहमिन्द्र उत्पन्न हो सकता है । इसी तरह भव्य जीव भी बाल्य निग्रंथ निद्र धारण कर बेचन सामायिक धारण करने में अहमिन्द्रों के स्थान में जाकर उत्पन्न हो जाता है, यदि वहाँ भव्य जीव मम्यग्दर्शन में अपने आत्मा को पवित्र करते और फिर सामायिक धारण करे तो फिर उसकी क्या बात है ! अर्थात् :- यह तो मुक्त होता ही है ।

सामायिक व्रत के पञ्चनिवारों का वर्णन :-

सामायिक ग्रतस्य सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानस्य पञ्चातिचारः
भवन्ति । कायदुःप्राणिधानं, वाग्दुःप्राणिधानं, मनोदुःप्राणिधानं अना-
दरः स्मृत्यनुपस्थापनं चेति । तत्र दुष्टं प्राणिधानं, दुःप्राणिधानं,
अन्यथा वा प्राणिधानं दुःप्राणिधानं । क्रोधादि परिणामवशात् दुष्टं
प्राणिधानं भवति । शरीरावयवानामनिभृतायस्यानं कायदुःप्राणिधानं ।
वर्णसंस्कारेभावायै चागमकृत्यं चापलायिवाक् दुःप्राणिधानं । मनसोऽ-
नर्पितत्वं मनोदुःप्राणिधानं इति कर्तव्यताप्रत्यसाकल्याणप्रयत्नैर्वि-
त्प्रवृत्तिरनुत्साहोऽनादरः । अनेकाग्रामसमाहितमनस्कृता स्मृत्यनुप-
स्थापनं अथवा रात्रिदिवंप्रामादिकस्यसंचित्यानुपस्थापनं स्मृत्यनुप-
स्थापनं । मनोदुःप्राणिधानस्मृत्यनुपस्थापनयोरयंभेदः, क्रोधाद्यावे-
शात्सामायिकोदासीन्येन वा चिरकालमवस्थापनं मनसोमनोदुःप्राणि-
धानम् । चिन्तायाः परिस्पंदनादैकाग्रेणानवस्थापनं स्मृत्यनुपस्थाप-
मिति विस्पष्टमन्यत्वम् ।

अर्थः— समस्त पापरूप योगों का त्याग करना ही सामायिक है ऐसे इस साम-
यिक के कायदुःप्राणिधान, वाग्दुःप्राणिधान, मनोदुःप्राणिधान, अनादर और स्मृ-
तनुपस्थापन ये पाँच अतिचार सामायिक शिक्षाग्रत के है ।

(१) कायदुःप्राणिधानातिचारः— दुष्ट प्राणिधान अथवा दुष्ट प्रवृत्ति को दु प्र-
धान कहते है या अन्यथा रूप प्रवृत्ति करना भी दुःप्राणिधान है । क्रोधादि क-
रूप परिणामों के निमित्त से दुष्टप्रवृत्ति वा दुःप्राणिधान होता है । हाथ
आदि शरीर के अवयवों को निश्चल न रखना कायदु प्राणिधान है ।

(२) वाग्दुःप्राणिधानातिचारः— अक्षरो के उच्चारण में अथवा भाव व
में प्रमाणता न होना, उच्चारण मे व अर्थ में चपलता का होना वाग्दुःप्राणिधान

(३) मनोदुःप्राणिधानातिचारः— सामायिक में मन न लगाता मनोदुःप्राणिधान

(४) अनादरातिचारः— सामायिक मे करने योग्य कर्तव्य कर्मों को पूर्ण
करना उनको जिस तिस तरह (यद्वा तद्वा) पूर्ण करना अथवा सामायिक
सामायिक को क्रिया के करने का उत्साह न रखना अनादर है ।

(५) स्मृत्यनुपस्थापनातिचारः— चित्त को एकाग्रह न रखना अथवा चित्त
समाधानता न रखना स्मृत्यनुपस्थापन है; अत्यन्त प्रमादी होने के क

रातदिन चिन्तवन करते हुए भी स्मरण न रहना स्मृत्यनुपस्थापन नामका सामायिक शिक्षाव्रत का अतिचार है ।

मनोदुःप्रणिधान और स्मृत्यनुपस्थापन इन दोनों में यह भेद है कि क्रोधादिकपायों के आवेश से अथवा सामायिक में उदासोन्ता रखने के कारण बहुत थोड़ी देर तक सामायिक में चित्त लगाना मनोदुःप्रणिधान है और चिन्तवन के परिस्पंदन होने से अर्थात् बदल जाने से चिन्त को एकाग्र न रखना, स्थिर न रखना स्मृत्यनुपस्थापन है । इस प्रकार से दोनों अतिचारों की भिन्नता स्पष्ट है ।

(२) प्रोषधोपवास कालक्षण :-

प्रोषधः पर्व पर्यायवाची, शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाणि उपेत्यतस्मिन्वसन्तीत्युपवासः । उक्तं च-

“उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्यानि स्वकार्यतः ।

वसन्ति यत्र स प्राज्ञरूपवासोभिधीयते ॥”

पर्वणि चतुर्विधाहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः, निरारम्भः श्रावकः स्वशरीरसंस्कार कारण स्नानगंधमाल्याभरणादिभिविरहितः शुच्यावकाशोसाधुनिवासेचैत्यालयस्ववोषधोपवासगृहेवा धर्मकथा श्रवण श्रावण चिन्तनावहितांतःकरणसन्नुप वसेत् । प्रोषधोपवासस्य पञ्चातिचार भवन्ति । अप्रत्यवेक्षिता प्रमाजितोत्सर्गः, अप्रत्यवेक्षिता प्रमाजितादानं अप्रत्यवेक्षिता प्रमाजितसंस्तरोपक्रमणं, अनादरः स्मृत्यनुपस्थापनं चेति । तत्र जंतवः सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं, चक्षुषोर्व्यापारोमृद्हनोपकरणेन यत् त्रियते प्रयोजनं तत् प्रमाजंनं, अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितायां भुवि मूत्रपुरीषोत्सर्गः, अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्गः । अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितस्याहंदाचार्यादिपूजोपकरणस्यगंधमाल्यधूपान्देरात्मपरिधानाद्यर्थः य वस्त्रपालादेश्चादानमप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितादानम् । अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितस्यप्रावरणादेः संस्तरणस्योपक्रमणप्रत्यवेक्षिता प्रमाजितसंस्तरोपक्रमणं । क्षुत्पीडितत्वादावश्यकेष्वनुत्साहोदनादरः स्मृत्यनुपस्थापनं व्याख्यातमेव ।

अर्थ :- प्रोषण शब्द का अर्थ पर्व है। कान आदि पाँचों इन्द्रियों को शब्द आदि विषयों की ग्रहण करने की उत्सुकता छोड़कर आत्मा में अविवास करने को उपवास कहते हैं। लिखाभी है।

उपेत्याक्षाणीत्यादि अर्थात् समस्त इन्द्रियां अपने अपने कार्यों से ही होकर आत्मा में आकर निवास करें उसे विद्वान् लोग उपवास कहते हैं।

पर्व के दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषणोपवास उस दिन श्रावक को सब तरह के आरम्भ छोड़ देना चाहिये। अपने शरीर मस्कार करने वाले शोभा बढ़ाने वाले स्नान, गंध माला और आभरण को का त्याग कर देना चाहिये तथा किसी पवित्र जगह में साधुओं के स्थान में, चैत्यालय में अथवा अपने खास प्रोषणोपवास के घर में रहकर अन्तःकरण में धर्मकथाओं को सुनते और चिन्तन करते रहना चाहिये।

प्रोषणोपवास के पाँच अतिचार :-

(१) अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्ग (२) अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितादान अप्रत्यवेक्षिता प्रमाजित संस्तरोपक्रमण (४) अनादर और (५) स्मृत्यनुषंग ये पाँच अतिचार प्रोषणोपवास के हैं।

(१) अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितोत्सर्ग :- यहाँ पर जीव है या नहीं। प्रकार आंग से देगने को प्रत्यवेक्षण कहते हैं। किसी भी कोमल उपकरण जीवों को बचाने को प्रमाजित कहते हैं। किसी भी कोमल उपकरण से जो हृद्द जमीन पर मूत्र पुरीष करना, शीघ्र व टट्टी जाना तथा बिना देखे बिना शोधे पुस्तक, चौकी व पूजा के उपकरण आदि और शरीर के व प्रमाद वगैरे भूमि आदि पर रखना। यह प्रथम अतिचार है।

(२) अप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितादान - अन्नरस व आचार्य आदि परमेष्ठि पूजा के जो बर्तन आदि उपकरण है अथवा गध, माना, धूप आदि पूजा सामग्री है अथवा अपने पत्थिन के कपड़े व बर्तन आदि हैं उन सबको प्रमाजित (शोधे) प्रयोग करना यह दूसरा अतिचार है।

(३) अप्रत्यवेक्षिता प्रमाजित संस्तरोपक्रमण :- बिना देखे बिना इन्द्रियों को बर्तनों को रखना व बिछाना (प्रोषणोपवास के दिन चटाई बिछाना) यह तीसरा अतिचार है।

(४) अनादर :- भूमि की अतिशय वातावरण होनेसे अथवा और किसी कारण से आदि अनादर करने में उपाय न रखना यह चौथा अतिचार है।

(५) स्मृत्यनुपस्थापन :- प्रोषधोपवास में करने योग्य क्रियाओं को भूल जाना । जैसे-जो नित्य स्वाध्याय जाप, पाठ आदि करता था उसको करने की याद न रहना, प्रमाद व आलस्य में ऐसे वेग्वर हो जाना कि करने योग्य धर्म कार्य की सम्हाल न रखनी तथा अष्टमी व चौदस तिथि का स्याल न रखना यह पाँचवा प्रतिचार है ।

वितोष :- प्रोषधव्रती व्रत प्रतिमा में शिक्षारूप तथा प्रोषधोपवास प्रतिमा में नियम रूप से इन प्रतिचारों को बचावे ।

व्रत प्रतिमा वाले के यदि प्रतिचार नगे तो उस श्रेणी की अपेक्षा अयोग्य न होगा किन्तु प्रतिमारूप पालने वाला प्रतिचारों को अवश्य बचावे, यदि कदाचिन् प्रमादवश कोई दोष लग जावे तो उसका प्रायश्चित्त लेवे अर्थात् प्रतिव्रमण करे । व्रती श्रावक कोमल रुमान व मृत के कोमल धागों की बनी हुई पिच्छणा से स्थान को देगते हुए भाड देवे और फिर किमी केनन व अचेतन पदार्थ को रखे ।

प्रोषधोपवास की विधि :- "सप्तमी त्रयोदश्यां च दिवसे मध्याह्ने भुक्त्वा उत्कृष्टप्रोषधव्रती चैत्यालयं गत्वा प्रोषधं गृह्णाति, मध्यमप्रोषधव्रती तत् संध्यायां प्रोषधं गृह्णाति, जघन्यप्रोषधव्रती अष्टमीचतुर्दशीप्रभाते प्रोषधं गृह्णाति, प्रोषधं आरम्भं गृह्ण हृष्ट व्यापार क्रय, विक्रय, कृषि, भसि, वाणिज्यादि उत्वं आरम्भं न करोति । प्रोषधप्रतिमाधारी अष्टम्यां चतुर्दश्यां च प्रोषधोपवासम् अङ्गीकरोति । यत्तं तु प्रोषधोपवासस्य नियमो नास्ति ।"

[मन्वी धर्मसंस्कृतशास्त्रे ४० टीका]

भाषार्थ :- प्रोषधव्रती तीन प्रकार में प्रोषधोपवास करे । उत्कृष्ट तो मज्जनी या त्रयोदशी को मध्याह्न में भोजन करने के बाद प्रोषध आरम्भ करे । मध्यम प्रोषधव्रती मज्जनी या तेरस की रात को प्रोषध आरम्भ करे तथा जघन्य अष्टमीया चौदस के प्रभातकाल प्रोषध लेवे अर्थात् ११ (सोम) पहर, १२ (बाह्य) पहर अथ २ (घाट) पहर लेवे ३ (तीन) प्रकार का प्रोषध लेवे । घाट पहर का प्रोषधवाता भी सिगरी मारि को प्रार्थना करके लेते कहता है, पहले आरम्भदि रात्रि को मरी प्रार्थना है । इसके प्रोषध नहीं करे या मज्जनी, क्योंकि प्रोषध में आरम्भ पहर का व आरम्भ का भोजन देना, सिगरी

लेसन, धाणिज्य आदि सब प्रारम्भ नहीं करना होता है, केवल धर्म-कार्यों में ही प्रवर्तन करना होता है ।

प्रोपध प्रतिमाधारी तो अष्टमी व चतुर्दशी को प्रोपधोपवास प्रवश्य करे, परन्तु व्रत प्रतिमा के प्रोपधोपवास का नियम नहीं है, यही अन्तर है। व्रत प्रतिमा के यह व्रत निरा रा रूप है । जैसे-कोई उम्मीदवार किसी कार्यालय में प्रतिदिन जाता है, काम करता है, परन्तु जब तक यह वेतन पाने वाला नोकर नहीं हुवा है तो उसके लिये यह ग्वास पावन्दी नहीं कि वह कार्यालय में जावे ही जावे । किसी दिन कारणवश नहीं भी जावे व देर हो जावे तथा जाकर काम करे यह उसके लिये कोई प्रावश्यक नहीं है यह उसकी मन की इच्छा पर निर्भर है । उसके लिये यह भी पावन्दी नहीं है कि इतना काम करना ही पड़ेगा । इस ही तरह व्रत प्रतिमा वाला हर अष्टमी व चौदस को अपनी शक्ति के अनुसार तीन प्रकार में से किसी भेद रूप उपवास करे, परन्तु यदि कोई विशेष कारण आजाय तो कभी नहीं भी करे । जिस विधि व जितने समय के लिये कहा है उस विधि व समय में कभी भी करे । जैसे-व्रती संध्या को कुरला करके अष्टमी के दिन एक वार लघु भोजन तक करे तो कोई हर्ज नहीं होगा, अष्टमी का दिन धर्मध्यान में वित्ताने, परन्तु कोई विशेष घर का व व्यापार का अत्यन्त जरूरी आरंभ आजावे तो कर भी लेवे, इसके पूरा २ नियम नहीं है । अहाँ तक वने वहाँ तक आप परिणामों को बढ़ाने का ही उद्यम रखे, बीना न होने दे ।

प्रोपध शब्दः पर्व पर्यायवाची । शब्दादि ग्रहणं प्रति निवृत्ती-
त्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाण्युषंत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः । चतुर्वि-
धाऽहार परित्यागः इत्यर्थः । प्रोपधोः उपवासः प्रोपधोपवासः ।
स्वशरीर संस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादि विरहितः शुभाव-
काशे साधु निवासे, चंत्यालये, स्वप्रोपधोपवासगृहे वा धर्म कथा
धयण भाषण चिन्तना बहितान्तरङ्गः सन्नुपवसेत् निरारम्भश्रावकः ।

[सर्कर्म सिद्धि ४२ अ० ७] श्री पूज्य पादशामी

अर्थः— प्रोपध का अर्थ पर्व का है । शब्द आदि विषयों के लेने में इन्द्रियों का रचि रहित होकर विगमें आकर बस जाय यानी ठहर जावे सो उपवास धर्मार्थ पाँकों इन्द्रियों के विषयों को त्याग कर निर्विषय अतीन्द्रिय आनन्द की

रुचि में प्रयत्नशील हो जितेन्द्रिय रहना सो उपवास है अर्थात् राद्य, स्वाद्य, सेह्य और पेह्य चारों प्रकार के आहार का त्याग करना । प्रोषण यानी पर्व में उपवास (अष्टमी चतुर्दशी को) करना सो प्रोषणोपवास है । अपने शरीर को शृङ्गार करने के लिये स्नान, पान, गंध, माना, धामरणादि धारण न करे । शुभ स्थान जैसे मार्गुमों के निवाम, चैत्यालय या अपने घर में नियत प्रोषणोपवास याने कमरे में धर्म कथा के विचार में अपने मन को लगाये हुए बैठे तथा धारण व्यापारादि न करे ।

(१) भोगोपभोग परिमाण शिक्षावत :-

उपेत्यात्मास्कृत्य भुज्यत इत्युपभोगः, अनशनपानगंधमात्यादि सकृद् भुक्त्वापरित्यज्यपुनरपिभुज्यत इति परिभोगः । आच्छादन प्रावरणालंकारशयनासनगृहयानवाहनादिः तयोः परिमाणमुपभोग परिभोगपरिमाणं, भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं त्रसघातप्रमादयद्दु-वघानिष्ठानुसेव्यविषयभोऽत् । तत्र मधुमांसं सश परिहृतंष्यं त्रस-घातंप्रतिनिवृत्तचंतसा, मद्युपसेव्यमानं कार्याकार्यविषेकसंमोहकर-मिति तद्वर्जनं प्रमाद विरहायनेतवपजुंनपुष्पादीनि यद्दुर्जंतुपोनिस्या-नानि । घादंभृङ्गवेरमूलकहरिद्रानिय कसुमादीनिघनंतकाय व्यवदेशा-र्हाणि । एतेषामुपसेवेनेनबहुघातोत्पफनमितितत्परिहारः श्रेयान् । यान याहनाभरणादिष्वेतावदेवंप्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टाप्रिवतनं कृतंष्यं । नहि यतमभिसन्धि नियमानावेंसतिदृष्टानामपि चित्त धरत्र विक्रतवेद्याभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यापावर्त्रावे चप न शक्तिः काल परिच्छेदेनदस्तुपरिमाणेन च शक्यन् रूपं निवर्तनं कार्या ।

अर्थ - जो अपने प्राण साक्षात् भोगा यान एतयोः उपभोग कर्तव्य है । अंत- भोजन व पीने को छोड़ने, मद्य, माना, गंध, आदि का उपभोग है । एक बार भोजन करने भी फिर दुबारा विद्यारा विद्यारो उपभोग किया जाने परे अर्थात् कर्तव्य है । छोड़ने, विचारने, एतिसने के करने का अनुष्ठान, शौच, धारण, पान, मद्य, मानाको आदि सबको छोड़ छोड़े जावे अर्थात् कर्तव्य के उपवास है एक एतिसने है । इन उपवासो एतिसने शरीर का एतिसने करना उपभोगपरिमाणपरिमाणपरिमाण

गो का त्याग त्रसघात (जिसमें त्रस जीवों का घात हो) प्र
 भाद व वेहोशी हो) बहुवध (जिसमें बहुत से स्थावर जीवों का प
 हो अनिष्ट जो इष्ट न हो) अनुपसेव्य (जो सेवन करने योग्य न हो) इन
 विषय भेद से पांच भेद किये जाते हैं। जिसके हृदय में त्रस जीवों को हिंसा स
 त्याग है उसे मधु (शहद) और मास सदा के लिये छोड़ देना चाहिये। मदक
 (शराब का) सेवन करने वाला मोहित व वेहोश हो जाता है, उसे कार्य प्रवर्त
 का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। इसलिये प्रमाद दूर करने के लिये मद्य का त्याग
 करना आवश्यक है। केतकी का फूल, अर्जुन वृक्ष के फूल तथा और भी ऐसे
 फूलों में अनेक छोटे-छोटे जीव पंदा होते रहते हैं। वे फूल छोटे-छोटे जीवों के
 पंदा होने के स्थान हैं, गोला अदरक, गीली मूली, गीली हल्दी, गीले नीम के
 फूल आदि चीजों में अनन्त कार्यात्मक जीव रहते हैं इन सब चीजों के सेवन करने
 से फल तो बहुत थोड़ा होता है और घात बहुत से जीवों का होता है, इसलिये
 इनका त्याग कर देना ही कल्याणकारी है। रय, पालकी आदि सवारी की
 चीजें हाथी घोड़े आदि सवारी के जानवर तथा आभूषण आदि चीजों में से मुझे
 इनका इतना रगना ही अनीष्ट है इनके सिवाय सब अनिष्ट हैं यही समझ
 कर अनिष्ट का त्याग अवश्य कर देना चाहिये। जब तक प्रतिज्ञा पूर्वक निवर्त
 न किया जावे तब तक व्रत कभी नहीं कहलाया जा सकता, इसलिये जो पदार्थ
 इष्ट है अथवा अपने नियत किये हुए परिमाण में प्राण्ये हैं उनमें भी अनेक रय
 के वस्तु विचित्र विचित्र पौष्टिक और चित्र विचित्र आभरण आदि जो सेवन करने
 के प्रयोग हैं उनका त्याग भी जीवन पर्यन्त तक के लिये कर देना चाहिये।
 यदि जन्म भर के त्याग करने की शक्ति न हो अथवा अधिक पदार्थों के त्याग
 करने की शक्ति न हो तो कान का परिमाण नियत कर तथा उन पदार्थों का
 परिमाण नियत कर अपनी शक्ति के अनुसार त्याग कर देना चाहिये।
 उपभोग परिभोग परिमाण इत के पांच अतिचारों का वर्णन :-

उपभोगपरिभोगपरिमाणस्यातिचाराः पञ्च भवन्ति। सचिता-
 हारः सचिन्तसंबन्धाहारः सचितसन्निधाहारः, अभिषयाहारः दुःपञ्चा-
 हापञ्चेति। तत्र चेतनावद द्वयं सचितसंहारितनायः तदभ्यवहरणं
 सचिन्ताहारः सचितस्यगौरवनिष्ठः सचितसंबन्धाहारः सचितोन्मत्त्यति-
 कोमं सचिन्तसन्निधाहारः गोवीर्यादयोवाक्यं वा अभिषया-

शान्तस्तंदुलभावेनातिक्लेदनेन वा दुष्टः पक्वो दुःपक्वाहारः । संबंध-
मिश्रयोरयंभेदः संसर्गमात्रं सम्बन्धः सूक्ष्म जंतुव्याकीर्णत्वाद्धिभागी-
कर्तुमशक्यः सन्मिश्रः । एतेषामभ्यवहरणे सचित्तोपयोगः इन्द्रियमद-
वृद्धिवार्तादिप्रकोपो वा स्यात् । तत्प्रतीकार विषयेपापलेपो भवति ।
अतिययश्चैनं परिहरेयुरिति ।

अर्थः— इस उपभोग परिभोग परिमाण शिक्षाव्रत के पांच अतिचार होते हैं ।
(१) सचित्ताहार (२) सचित्तसंबंधाहार (३) सचित्त सन्मिश्राहार (४)
अभिपवाहाहार और (५) दुःपक्वाहार ये पांच अतिचार हैं ।

(१) सचित्ताहारातिचारः— जिसमें चेतना हो ऐसे हरितकाय वनस्पति आदि
द्रव्यों को सचित्त कहते हैं ऐसे द्रव्यों का भोजन करना सचित्ताहार कहलाता है ।

(२) सचित्तसंबंधहारातिचारः— जिस भोजन का सचित्त वाले द्रव्य के साथ
संबंध व संसर्ग हो गया हो उसे सचित्त सम्बन्धाहार कहते हैं ।

(३) सचित्तसन्मिश्राहारातिचारः— जिस भोजन में सचित्त द्रव्य मिल गया हो
उसे सचित्तसन्मिश्राहार कहते हैं ।

(४) अभिपवाहारातिचारः— जो सोवीर (सोमरस) आसव आति पतले व
पौष्टिक पदार्थ हैं उन्हें अभिपवाहार कहते हैं ।

(५) दुःपक्वाहारातिचारः— पक कर भी चावल ही ऐसे बने रहने से- अथवा
अधिक पक कर गल जाने से जिनका पाक दुष्ट पाक अर्थात् जिस भोजन का
पाक ठीक न बना हो (अधिक पक गया हो या थोड़ा पका हो) उसे दुःपक्वा-
हार कहते हैं ।

सचित्त संबंध और सचित्त सन्मिश्र इन दोनों में यह भेद है कि जिसके
साथ केवल सचित्त का सम्बन्ध हुआ हो वह तो सचित्त सम्बन्ध है और जिसमें
सूक्ष्म जन्तु इस प्रकार मिल गये हों कि जिन्हे कभी अलग नहीं कर सकते हैं
ऐसे भोजन को सचित्तसन्मिश्र कहते हैं । इन उपर्युक्त सब प्रकार के भोजन
करने से अपना उपयोग सचित्त रूप होता है । इन्द्रियों का मद बढ़ता है और
वायु आदि दोषों का प्रकोप होता है तथा उनके प्रतीकार करने में भी (उन
रोगों का इलाज करने में भी) पाप का लेप होता है अर्थात् पाप बढ़ता है
और अतिथि व साधु लोग भी इन चीजों को छोड़ देते हैं । इसलिये ये सब
उपभोगपरिभोगपरिमाण के अतिचार हैं ।

(४) अतिथि संविभाग व्रत का लक्षण :-
 संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः अथवानास्यतिथिरस्तीत्यतिथिर-
 नियत कालगमनमित्यर्थः । अतिथयेसंविभागोऽतिथिसंविभागः, स
 चतुर्विधः भिक्षोपकरणौषधप्रदिश्रयमेदात् । उक्तं च-
 प्रतिग्रहोच्चस्थाने च पादप्रक्षालनमर्चनम् ।
 प्रमाणोयोगशुद्धिश्च भिक्षा शुद्धिश्चते नव ॥
 उक्तं च- श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा ।

इति श्रद्धादयः सप्तगुणाः स्युर्गृहमेधिनाम् ॥
 एवं विधनवविधपुण्यैः प्रतिपत्ति कुशलेन सप्तगुणैः समवितेन-
 मोक्षमार्गमभ्युद्युताय अतिथये संयमपरायणायशुद्ध चेतसा आश्चर्य-
 पंचकादिकमनिच्छतानिरवद्याभिक्षादेया । धर्मोपकरणानिच सम्यग्द-
 शनज्ञानचारित्रोपवृंहणानिदातव्यानि । धर्मोपकरणानिच वातपित्त-
 श्लेष्म प्रकोपहताय योग्यमुपयोजनीयं प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धय'
 प्रतिपादयितव्यं इति ।

अर्थः :- जो समय का नाश न करते हुए विहार करें उन्हें अतिथि कहते हैं
 अथवा जिनकी तिथि नियत न हो अर्थात् अनियमित समय में गमन करते हो
 उन्हें अतिथि कहते हैं (मुनियों की भिक्षा में उत्सव पर्व आदि कोई भी वाधक
 नहीं होते इसीलिये उनकी भिक्षा के लिये कोई तिथि नियत नहीं रहती वे
 भिक्षा के लिये कय भावोंगे ऐसा किसी को भी मालूम नहीं रहता) ऐसे अतिथि
 के लिये दान देना अतिथिनविभागव्रत कहलाता है । यह दान आहारदत्त
 उपकरण, औषध, प्रतिधय (वसतिका) के भेद से चार प्रकार का है । अन्य
 शस्त्रों में निम्ना है--प्रतिग्रहोच्चस्थानेत्यादि ।

अर्थान्- प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनको शुद्ध
 रगना, बचन को शुद्ध रगना, काय को शुद्ध रगना और आहार देना ये नौ
 प्रकार की भक्ति व विधि कहलानी है । इसी तरह-श्रद्धाशक्तिरलुब्धत्वमित्यादि ।
 श्रद्धा, शक्ति, लोभ न करना, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा ये श्रद्धा
 आदि मान दान देने वाले गृहस्थों के गुण हैं ।
 इस प्रकार नवतरह की भक्ति यानी नौ तरह के पुण्य अथवा विधि के

पालन करने में जी अत्यन्त कुशल है और श्रद्धा आदि सातों गुण जिसमें मौजूद है ऐसे गृहस्थ को जो मोक्षमार्ग के धारण करने में सदा तत्पर है और समय पालन करने में सदा तल्लीन है ऐसे अतिथि साधु के लिये शुद्ध चित्त से पंचाश्चर्य आदि किसी की भी इच्छा न रख कर निर्दोष आहार देना चाहिये । इसी तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की वृद्धि करने वाले धर्मोपकरण (पीछी शास्त्र कमण्डलु आदि) देने चाहिये जो साधु वात, पित्त कफ आदि के प्रकोप से पीडित है ऐसे रोगी मुनि के लिये औषधि देना चाहिये तथा परमधर्म की श्रद्धा पूर्वक वसतिका बनवा देनी चाहिये ।

भावायं :- “अतिथये संविभागः” अर्थात् अतिथि को अपने ही उद्देशित (स्वयं के वास्ते बनाये हुए) शुद्ध आहार में से विभाग करके देना सो अतिथि-संविभाग है । इस ही का दूसरा नाम आहारदान (दान) भी है --

“अनुगृह्यार्थं स्वस्पातिसर्गो दानं” (त० सू० क० उमास्वामी)

भावायं :- अपने और पर के उपकार के अर्थ द्रव्य का जो त्याग करना सो दान है । दान देने से अपना भला तो यह होता है कि लोभादि कपायों की मन्दता से पुण्य बन्ध हंता है तथा परोपकार इस अपेक्षा होता है कि साधुगण अपने शरीर की रक्षा कर मोक्षमार्ग में मुख से गमन कर सकते हैं अथवा क्लेशित जीवों का दुःख दूर होकर उनके द्रव्य प्राणों की रक्षा होती है । इस दान के लिये निम्नांकित चार कार्यों (वातों) का विशेष रूप से ध्यान रखा जावे ।

“विधिद्रव्यादात्पात्रं विशेषात्तद्विशेषः”- (उमास्वामी)

विधि, द्रव्य, दाता और पात्र इन चार बातों को समझना चाहिये । इन चारों की जिस प्रकार (कदर) उत्तमत्ता होगी उसही कदर फल अधिक ही होगा । दान देने के लिये नव (९) प्रकार की विधि है जो कि देने वाले के आधीन है ।

“संग्रहमुच्चस्यानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ।

वाक्कायमनः शुद्धिरेषण शुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥ [१० श्लो०]

भावायं :- संग्रह (विधि) - प्रथम श्री मुनिराज को पङ्गाहना यानी शुद्ध वस्त्र पहिने हुए और प्राणुक शुद्ध जल का कल्प लिये हुए अपने द्वार पर पामोकार-मंत्र जपता हुआ पात्र की राह में गड़ा रहे ।

उम समन पर से स्मोई नेमार हो सगीत् रगोई तिये जाते ता (सने का) तिमो भी पवार का सारम्भ पर में न होता हो—जैमे-पनो मे प्रत पीमा जाना, जंगली मे कृता जाना, घाग का जाना या घाग का जाना वत व अग्नि पर तिमो पीत्र का पकाया जाना कौतिक मन्त्रा या सारम्भ देप का मुनिराज लौट जाते । स्मोई तंगार करके लूला लण्डा कर दिया जाते और सर्व सामान शुद्ध स्थान मे यनाकर रखा रहे । रात देलो हुए जब मुनिराज नजर पड़े और उम पर के पाप घागे तब यत नमोस्तु कत करके अता हुए उच्चाहरण करे "आहार वत शुद्ध है, सत मिष्ट मिष्ट मिष्ट" इस प्रकार मे कहने का प्रयोजन यत है कि हमारे यत आहार व पापी (जरा) मय शुद्ध और और दोष रहित है । आप कृता करके मठा पपारं २, पपारं (टहरे) । तोन बार कहने का प्रयोजन है कि हमारी अत्यन्त भक्ति है, आप अवश्य कृपा करे इस ही का नाम संप्रह है ।

(२) उच्चस्थान :- घर के भीतर मुनिराजको मे जाकर गृहस्व पहिले रखीं घर में प्रवेश करे और महाराज को यगनोच्चारण करके आह्वान करे तथा किसी ऊँचे स्थान (जैसे—काष्ठ का पाटा या चौकी आदि) पर बैठाने (विराममान करे) और विनय सहित सज्ञा होवे ।

(३) पावोदक :- शुद्ध अचित्त जल से पैरों को धोवे ।

(४) अर्चन :- अष्ट द्रव्यों से भाव सहित पूजन करे। अर्ध चढावे । पूजन मे बहुत अधिक समय न लगावे, नहीं दो आहार का समय निकल जावेगा । पाँच, सात मिनट मे ही पूजन करले और मुनिराज का दर्शन करके अपने की कृताये शमभे ।

(५) प्रणाम :- भावसहित नमस्कार करे ।

(६) वाक्शुद्धि :- जिस समय से मुनि को पडगाहा जाय उस समय से लेकर जब तक श्रीमुनिराज घर से विदा न हों तब तक आप भी वचन, धर्म व न्याय युक्त मतलब के बहुत मिष्टता व शान्तता से कहे और घर के अन्य जन भी जो वचन जरूरी हो सो कहें नहीं तो मौन रखें । उस समय घर में कोलाहल, दौड़ धूप व चबराहट किसी प्रकार की न हो, ऐसी शान्तता हो कि मानी यह एक जनरहित स्थान है ।

(७) कापशुद्धि :- दान देने वाले का शरीर शुद्ध होना चाहिये यानी मलमूत्र आदि की बाधा सहित व रुधिर, पीप बहने वाले घाव सहित व अन्य किसी

तीव्र रोग सहित न हो किन्तु वह स्नानादि किये हुए व धोये हुए और उजले वस्त्र पहिने हो तथा अपने हाथों से कमर के नीचे का अङ्ग व कपड़ा न छुए, अपने हाथ ऊपर ही रखे । यदि हाथ छुए जायेंगे तो मुनि भोजन न करके लौट जायेंगे । इसलिये घर में जो पुरुष, स्त्री व बालक मुनि के सम्मुख आवे उनके शरीर अपवित्र न हो ।

(८) मनशुद्धि :- शांता का मन धर्म-प्रेम ने वासित हो, मन में क्रोध, कपट, लोभ, ईर्ष्या, आकुलता व शीघ्रता न हो बहुत ही शान्त मन रखे । मन में आचार्य, उपाध्याय और साधु के गुणों को विचारता हुआ ऐसे साधु की भक्ति में अपने जन्म को सफल मान कर अशुभ विचारों को न आने देवे ।

(९) एषगाशुद्धि :- भोजन की शुद्धता हो जिसमें निम्नांकित चार बातों की शुद्धता पर ध्यान दिया जावे ।

(क) द्रव्यशुद्धि :- जो अन्न, दूध, मीठा आदि रस व पानी रसोई के काम में लिया जाय वह शुद्ध मर्यादा का हो लकड़ी बिनाधुनी (बिनावीधी) देख करके काम में ली जाय तथा जो रसोई बनाने में प्रवर्तें उसका शरीर भी शुद्ध होना चाहिये । वह स्नान करके धुले हुए साफ उज्ज्वल कपड़े पहिने हो तथा अपने शरीर पर कोई हड्डी चमड़े आदि की अशुद्ध चीज न हो । जैसे-हाथी दांत व सरस के बने हुए विलायती चूड़े, सीप के बटन, भूँठे मोती, ऊन व बाल के कपड़े आदि । कपड़े शरीर पर जहा तक हो बहुत अधिक न हो ।

(ख) क्षेत्रशुद्धि :- रसोई बनाने की जगह शुद्ध हो यानी उसमें रसोई का ही काम किया जावे । जितना रसोईघर रसोई बनाने व जीमने का स्थान हो वह प्रतिदिन कोमल झाड़ू से साफ किया जाय तथा पाँगे से धोया जाय या मिट्टी से लीपा जाय । गोदर पशु का मल है उससे नहीं लीपना चाहिये, क्योंकि उसमें सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो सकती है । पूरे चौके पर चन्दोवा (चँदवा) रखना चाहिये, ताकि रसोई में कोई जीव जन्तु व जाला आदि न गिर पड़े । इस क्षेत्र की हद-बन्धी हो ताकि अशुद्ध स्त्री, बालक व पुरुष उस चौके में घुसने न पावे । यदि शुद्ध वस्त्रधारी स्त्री व पुरुष चौके में जावे तो प्राशुक जल से पैर धोकर जावे और जितनी बार बाहर आवे पैर धोये, बिना भीतर न जावे । थावक को घर में अचित्त पानी से ही व्यवहार करना चाहिये, क्योंकि सचित्त का व्यवहार देखकर मुनि भोजन नहीं करेंगे ।

(ग) कातशुद्धि - रोज समय पर रसोई को भोजन करने लगना व हो समय पर ही मुनि को खातार दान देना । सामानिक के समय के प्रतिदिन ही सर्व निपटा देना यानी रसोई वाले के प्रति ही खातार दान देना चाहिए ।

(घ) भावशुद्धि - खातार को यह कभी भी भान न करने चाहिए कि यह मुनि महाराज को पटनाहना है उस कारण में उस रस प्रसार की रसोई बनाते क्योंकि मुनि के लिये मैं कुछ बनाऊँ तो गाल्य में गयी हुई रसोई के प्रारण का दोष दाना की लगता है, यदि ऐसा मुनि को भान हो जाय कि मेरे लिये यह रसोई खास तौर में की गई है तो वे कभी भी भोजन नहीं करेंगे । इन अपने प्रतिदिन के अनुसार ही खातार अपने व अपने कुटुम्ब के लिये जितनी रसोई रोज (प्रतिदिन) बनती थी उतनी ही बनवावे । आज मुनि को दान करता इससे ज्यादा रसोई बनवाऊँ ऐसा मकल्य न करे । अपने भाव ऐसे रखने कि मैं खाता हूँ उसमें से विभाग करना मेरा कर्तव्य है, ऐसा जान हर्ष पूर्वक भाव से दान दे-सो भाव शुद्धि है ।

द्रव्यविशेष - जो कोई श्रावक मुनि को दान करने को इच्छा करना प्रकार के व्यजन मुनि को प्रसन्न करने की कामना से बनवाता है वह उद्देशिक भोजन का दान कर पाप का बन्ध करता है । जो भोजन रसोई में अपने यहाँ तैयार हो उनमें से भी वह भोजन मुनिराज की दे जो उनके शरीर को हानि कारक न हो, किन्तु उनके मयम को बढ़ाने वाला है; जैसा कि कहा है :-

"रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते ।

द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्याय वृद्धिकरम् ॥१७०॥ [१० नि०]

अर्थ - ऐसा द्रव्य भोजन में देना चाहिये जो मुनि के राग, द्वेष, अन्धपन, मद, दुःख, भय, रोष आदि को पैदा न करे, किन्तु जो मध्यक् तप और स्वाध्याय को बढ़ाने वाला हो अर्थात् गरिष्ठ भोजन, अलस्य लाने वाला भोजन कभी भी न देवे । जैसे-आपके यहाँ मूँग की, उड़द की दाल, भात, रोटी, गेहूँ की व बाजरे की या लड्डू चने के तैयार है तो आप मुनिराज के शरीर व ऋतु को देख कर ऐसा भोजन दो जिसका की शीघ्रमेव पाचन हो और हल्का हो यानी आप मूँग की दाल, गेहूँ की रोटी व भात अधिक हो, लड्डू व बाजरे की रोटी तथा उड़द की दाल बहुत कम देवी या मत देवी ।

दातृविशेष :- दान देने वाला बहुत विचारवान होना चाहिये, छोटे बालक व नादान स्त्री तथा असमर्थ निर्वल, रोगी मनुष्य को दान देने के लिये तैयार नहीं होना चाहिये । ऐसे जीव केवल दान को देते हुए देख कर उसकी अनुमोदना कर सकते हैं ।

दातार मे मुख्य रूप से सात गुण होने चाहिये --

“ऐहिकफलानपेक्षाक्षान्तिनिः कपटानसूयत्वम् ।

श्रवियादित्तर्मुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणः ॥१६६॥ [पु०सि०]

भावार्थ :- (१) ऐहिकफलानपेक्षा :- दान का देनेवाला लौकिक फल की इच्छा न करे कि मुझे धन व पुत्र तथा यश का लाभ हो ।

(२) क्षान्ति :- क्षमाभाव रखे, यदि दान के समय कोई क्रोध आने का कारण भी बने तो क्षमा भाव मे उमे रोके ।

(३) निष्कपटता :- कपट व छल भाव को न करे । छल से अशुद्ध वस्तु का दान न करे तथा अन्य किसी भी प्रकार का कपट मन मे न रखे ।

(४) अनसूयत्व :- दान देते हुए अन्य दातारों से ईर्ष्याभाव न रखे कि मैं अन्यो (दूसरों) से बढ बढ कर यानी श्रीगो को लज्जित करके दान करूँ ।

(५) अविपादित्वः :- दान के समय किसी भी प्रकार का रज (शोक) न करे ।

(६) मुदित्व :- दान देते समय हर्षित भाव रखे ।

(७) निरहंकारित्व :- दातार इन बात का अहंकार न करे कि मैं बडा दानी हूँ, मेरे तो पात्र का लाभ सुगमता मे हो जाना है, मैं पुण्यात्मा हूँ, अन्य तो पापी है ।

शास्त्र के भाव को जानने वाला दातार हो, जो केवल इस ही भाव मे दान करे कि मेरे निमित्त मे इनके रत्नत्रय पालन मे महायत्ना हंगी गो मंग द्रव्य आज सफल हुवा-मोक्ष मापन मे परिणत हुवा । धन्य है मुनि ! मैं अब ऐसे रत्नत्रय को पालने योग्य बनूँगा; ऐसा हर्षयमान होना हुवा अपने को कृतार्थ और धन्य माने ।

पात्रविशेष :- जो दान देने योग्य हो उगे पात्र कहते हैं । पात्र तीन प्रकार के होते हैं :-

पात्रं त्रिभेदमुपतं संयोगो मोक्षकारण गुणानान् ।

अविरत सम्यग्दृष्टिर्विरतविरतश्च सकल विरतश्च ॥१७१॥ [पु०सि०]

भाषायें :- जिनमें मोक्ष प्राप्ति के साधन जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारिणादिगुणों का मयोग हो अर्थात् जिनमें यह गुण पाये जावें वे पात्र हैं । ऐसे पात्र उच्च मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार के हैं :-

(१) उत्तमपात्र :- सर्व परिग्रह के त्यागी महाव्रतधारी मुनि तो उत्तमपात्र हैं ।
 (२) मध्यमपात्र :- अजिका ऐलक, धुल्लक, धुल्लिका से लेकर ब्रह्म प्रतिमा तक मध्यम पात्र हैं ।

(३) जघन्यपात्र :- अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर छटी प्रतिमावारी या जघन्य पात्र हैं तथा प्रव्रती जैन धर्म के श्रद्धानु श्रावक भी दान का पात्र हैं ।

उपर्युक्त सब ही पात्र दान देते के योग्य धर्म के स्थान हैं । उन पात्रों की दान देना श्रावक का परम कर्तव्य है ।

विशेष :- श्रावक के घर में पांचों पापों और कपायों की प्रवृत्ति पाई जा सकती है वह मदा अपवित्र रहता है । अतः जब तक उत्तम पात्र (ऐलक मुल्लक यक्षवारी आदि) जघन्यपात्र (प्रथम प्रतिमा से छटी प्रतिमावारी श्रावक तथा प्रव्रती सम्यग्दृष्टि साधर्मों भाई) जब तक उस घर में अपने पुनीत चरणों के द्वारा आहारार्थे प्रवेश न करे तब तक वह घर सदा ही अपवित्र रहता है । इन विषयों श्रावक का परमोपरम कर्तव्य है कि वह उपर्युक्त मत्पात्रों की प्रवृत्तियों प्रतिदिन आहार दान देकर अपने घर को पवित्र कर कृतकृत्य होवे ।

अतिथिसंविभाग के पांच अतिचारों का वर्णन :-

अतिथिसंविभागप्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति । सचिन्तनक्षेपः सचिन्तनपिधानं परव्यपदेशः मात्सर्ग्यं, कात्नातिक्रमश्चेति । तत्र सचिते पद्मपत्रादीनिधानं सचिन्तनक्षेपः । सचिन्तनावरणं सचितपिधानं । अथमत्र दातादीयमानोऽप्यपमस्येति समर्पणं परव्यपदेशः । अथच्छनोऽपि मत आदरभङ्गरेण दानं मात्सर्ग्यं अनगाराणाप्रयोग्यं जानं भोजनं कान्नातिक्रमं इतिपात्रदाने स्वस्य परस्य चोपकार स्वोपकारः पुण्यमंचयः परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः तच्चदानं पात्रपदं मोक्षकारणं मात्सर्ग्यं हेतुः । विधिविशेषाद्द्रव्यविशेषाद्दानं विशेषान्नात्रविशेषाद्दानं विशेषः । तत्र प्रतिग्रहोच्चदेशस्यापनमित्येव मादीनां विद्वानामादरेण करणं विधि विशेषः । दीयमानोऽप्राव

प्रतिगृहीतुस्तपः स्वाध्यायपरिवृद्धिकारणत्वाद्भव्यविशेषः प्रतिगृही-
तृजनेऽभ्यस्तयात्यागोऽविषादोदितस्तोददतोदितवतश्चप्रीतियोगः,
कुशलासंधितावसुधारासुरप्रशांसादिदृष्टकलानपेक्षिता, निरुपरोधत्व-
निदानत्वेथ्रद्धादिगुणसमन्वितत्वमित्येवमादि दातृविशेषः । मोक्ष-
कारणगुणसंपोगः पात्र विशेषः ततश्च फलविशेषः ।

“सत्पात्रोपगतं दानं सुक्षेत्रगतबीजवत् ।

फलाय यदपि स्वल्पं तदनल्याय कल्प्यते ॥

तथा च—दानफल विशेषेण श्रेयणोत्तमभोगभूमौ दशविधकल्प-
वृक्ष जनित सुखफलमऽन्वभूत् ।

तथा च—दानानुमोदेनरतिवररतिवेगारव्यकपोतमिथुनं विजया-
द्द्वप्रतिवृद्धगांधारविषयसुसीमानगराधिपतेरादित्यगते रतिवरचरो-
हेरण्यवर्मनामानन्दनोऽभूत् । तस्मिन्नेव गिरौ गिरिविषयेभोगपुरपते-
रप्युरयस्यरतिवेगचरो प्रभावत्याख्या तनयाऽभूत् । एवं हिरण्यवर्मा
प्रभावती च जातिकुलसाधित विद्या प्रभावेनसुखमन्वऽभूताम् । उक्त
हंसादिपंचदोषविरहिते न द्यूतमद्यमांसानि परिहंतव्यानि । तथा
शोक्तं महापुराणे :-

“हिंसासत्यस्तेयब्रह्मपरिहाञ्च वादर भेदात् ।

द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिगृहिणोऽष्ट संत्यमी मूलगुणा ॥

कित्तवस्य सदा रागद्वेषमोहवंचनानृतानि प्रजायन्ते, श्रयंक्षयोपि
भवति । जनेष्वंविश्वसनीयश्च, सप्तव्यसनेषु प्रधानंद्यूतं तस्मात्तत्परि-
हंतव्यं ।

तथा च—भरतेऽस्मिन्कुलालविषये श्रावस्तिपुराधिपतिः सुकेतु-
हाराजो महाभोगीद्यूतव्यसनाभिहतः स्वकीयंकोशंराष्ट्रमंतः पुरं
द्यूते हारयित्वा महादुःखाभिभूतोऽभूत् । तथा च युधिष्ठिरोऽपि
द्यूतेन राज्याद्भ्रष्टः कण्ठांशमवापत् ।

मांसान्निवृत्तिरहिंसाव्रत परिपालनार्थं मांसासिनं साधवो विनि-
न्ति प्रेत्य च दुःखभाग्भवति । तथा चान्यैरुक्तं -

“मांसं भक्षयति प्रेत्य यस्य मांसमिहाव्यहम् ।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवन्दति मनोपिणः ॥

मांसं प्राणिशरीरं प्राण्यंगस्य च विदारेण विना ।

तन्नाप्यते ततस्तत्पततं जैनैः सदा सर्वैः ॥

तथाहि—कुम्भनाम्नो नगरपतेर्भीमो नामामहानशिकस्तियमांस-
मलभमानो मृताशिशुमांसं सर्वभारेण सान्मथं कृत्वा कुम्भस्य दत्तवान् ।
ततः प्रभृति सोऽपि नरमांसलोत्पुः संजातः । तज्ज्ञात्वा * १०० ।
राज्यस्यायमयोग्य इति तं परिहृत वत्यः । तथा च विध्यमत्त कृ-
जवने किरातमुख्यः खदिरसारः । समाधिगुप्त मुनिदृष्ट्वा प्रणत-
स्मै धर्मलाभ इत्युक्ते कोऽसौ धर्मः, कोऽसौ लाभ इत्युक्तापरिप्र-
मांसादि निवृत्तिः धर्मस्तत्प्राप्तलाभस्ततः स्वर्गादिसुखं संजायते
इत्युक्तवति मुनौ तत्सर्वं परिहर्तुं महमशक्त इति वचने तदाकृत-
वधार्यं त्वयाकाकमांसं पूर्वं किं भक्षितमुत् न वेत्युक्तेऽकृतभक्षणो
मिति प्रतिवचने यद्येवं तदभक्षणं व्रतं त्वया गृह्यतामित्युपदेशो
तत्परिगृह्यातिवंधगतवतः कालान्तरेतस्यामये समुत्पन्ने सतिबंध-
काकमांसभक्षणादस्यव्याधेरुपशमो भविष्यतीत्युक्ते कण्ठगत-
प्राणेषु मया न कर्तव्यं तत्काकमांसोपयोगं विरमणव्रतं तपोधनस-
परिगृहीतं संकल्पमंगं कृतः सत्पुरुषता ततः काकमांसाभ्यवहुरण-
करिष्यामीति प्रतिज्ञाने समुपलक्षिततदीयाकृतस्तं मांसमुपभोज-
सौर्यप्राधिपतिः शूरवीरनामा तस्य मैथुनः समागच्छन्वनगह-
वटतरोरधः काञ्चिदभिरुदंती समीक्ष्य कथय केन हेतुना रोदित-
त्वं इत्यनुयुक्ता साऽवाचवहं यक्षी तव श्यालकं बलवदामयपरि-
मांसभक्षणविरमणव्रतफलेन मे भविष्यंतमधिपति भवानद्य-
भोजनेन नरकगतिभागिनं कर्तुं प्रारंभत इति रोदनमनुभव-
तपोदितः श्रद्धं हितदहं न कारिष्यामीति व्याहृत्यगत्वातम-
शरीरामय निराकरणहेतुस्त्वया काकमांसोपयोगः क्रियतामिति
श्यालकं नृपतयेन मां प्राण्यंगे संभक्ष्य मे कथयित

हितार्थं वचनमेतन्नरकगतिप्रापणहेतुत्वादेवं म्रियमाणोऽपि म्रियेन तु प्रतिज्ञाहानिं करोमीति । निगदितस्तदभिप्राय विद्यारणात् स तस्मै यक्षी निरुपित वृत्तांतमकथयत् । सोऽपि तदाकर्णनादाहिंसादिश्रावकव्रतमविकलमादाय जीवितांते सौधर्मकल्पे देवोऽभवत् । शूरवीरश्च तस्य परलोक क्रियावसाने उपगच्छन् यक्षीं निरीक्ष्य कथय स किं मे मय्युनश्तवपतिरजायतेति, परिपृष्टा सा (यक्षी) ऽवोचत् । स्वीकृत समस्तव्रतसंग्रहस्यामुख्यव्यन्तरगति परान्मुखस्य सौधर्मकल्पे समुत्पतिरासीत् । ततोमदधिपतित्त्वं प्रच्युतः प्रकृष्ट दिव्य भोगमनुभवतीति । हृदयगततद्वचनार्थनिश्चितमतिरहोव्रतप्रभावः समभिलषित फलप्रदान समर्थं इति । समाधिगुप्तमुनी समीपे परिगृहीतश्रावकव्रतोचमूव । खदिरसारोद्विसागरोपमकालंदिव्यभोगमनुभूय समनुत्थित भोगनिदानः स्वजीवितांते ततः प्रच्युतः प्रत्यंतपुरे सुमित्रनामा मित्रराजः पुत्रोभूत् । निदर्शनतपः कृत्वा व्यन्तरो आसीत्, ततः कुणिकनरपतेः श्रीमतिदेव्याश्च श्रेणिकोऽभूदिति एवं दृष्टादृष्टफलस्याप्यहितं मांसं ।

अर्थः— अतिथि संविभाग व्रत के (१) सच्चित्तनिक्षेप, (२) सच्चित्तापिधान, (३) परव्यपदेश, (४) मात्सर्यं और (५) कालातिक्रम ये पाँच अनिचार हैं ।

(१) सच्चित्तनिक्षेपः— आहार देने योग्य भोजन को कमल के पत्ते आदि सच्चित्त पदार्थ पर रखना सच्चित्तनिक्षेप है ।

(२) सच्चित्तापिधान --कमलके पत्ते आदि सच्चित्त पदार्थसे भोजन को ढकना । सच्चित्तापिधान है ।

(३) परव्यपदेशः— इस पदार्थ का देने वाला दाता यह है तथा यह जो भोजन दिया "जा रहा है वह इसका है, इस प्रकार कह कर आहार देना परव्यपदेश है ।

(४) मात्सर्यंः— आहार देते हुए भी बिना आदर से देना मात्सर्यं है ।

(५) कालातिक्रमः— जो समय मुनियो की भिक्षा का नहीं है उसमें भोजन कराना कालातिक्रम है ।

इस प्रकार अनिचार रहित पात्र दान देने में अपना उपकार भी होता-

है और दूसरे का भी उपकार होता है। पुण्य की वृद्धि होना भ्रष्टा उपकार है और सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होना परोपकार है। वह पात्र दान परम्परा से मोक्ष का कारण और साक्षात् पुण्य बढ़ाने का हेतु है।

विधि की विशेषता होने से द्रव्य की विशेषता होने से दाता की विशेषता होने से और पात्र विशेषता होने से दान में भी विशेषता हो जाती है। प्रतिग्रह, उच्चस्थान आदि नवधा भक्ति की क्रियायें हैं उन्हें आदर पूर्वक कर्तव्य विधि की विशेषता कहलाती है। आहार में जो अन्न दिया जाय वह यदि ब्राह्मण नेने वाले साधु के तपश्चरण स्वाध्याय आदि को बढ़ाने वाला हो तो वही दान की विशेषता कहलाती है। आहार देने वाले को अन्वेषण पूर्वक दान देना, दान देने में किसी तरह का विपाद न करना जो दान देने की इच्छा रखता है वह दान देता है और जिसने दान दिया है उसके प्रति सदा प्रेम प्रकट करना अर्थात् दान देने की कुशलता सप्ताह में प्रतिदिन हो, मेरे घर रत्नों की वर्षा हो, देव गण भी मेरी प्रशंसा करें इत्यादि प्रत्यक्ष फलों की इच्छा न रखना, दान देते हुए किसी को नहीं रोकना। निदान नहीं करना और श्रद्धादि सातों गुणों को धारण करना तथा और भी ऐसे ही गुणों को धारण करना दाताकी विशेषता कहलाती है। मोक्ष के कारण जो गुण हैं उनको धारण करना पात्र की विशेषता है, इन प्रकार विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता होने से दान में विशेषता होती है और दान में विशेषता होने से उसके फल में विशेषता होती है।

सत्याव्रोगतं दानमित्यादि :-

अर्थात् :- चिम प्रकार में अच्छे शोध (मित) में छोटा सा भी बीज बोया जाता है तो भी उस पर अनेक बड़े-बड़े फल लगते हैं उस ही प्रकार उत्तम (उत्तम) पात्र को छोटा सा भी दान दिया जाय तो भी उसका बड़ा भारी फल दान हुआ करता है।

दान के फल की विशेषता ही राजा श्रीधरने उत्तम भोगभूमि में अन्न केवल इस प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए अपूर्व गुण वानुभव किया था।

इस ही प्रकार दान की अनुपादना करने में "रतिवर" अर्थात् और अधिक रतिवर्गों ने गुणों का अनुभव किया था। रतिवर अर्थात् दान की अनुपादना में विशेषज्ञता करने पर बगने वाले गांधार देना की सुगीमा नगरी के राजा रतिवर्ग के विशेषज्ञता नामका पुत्र हुआ और रतिवर्ग अर्थात् उच्च

वज्रयाद्वं पर्वत पर गिरिनाम के देश के भोगपुर नाम के नगर के राजा वायु-
य की प्रभावती नाम की पुत्री हुई थी, इन दोनों का परस्पर विवाह हुआ था
और दोनों को जाति, कुल आदि के द्वारा सिद्ध हुई अनेक विद्याये प्राप्त थी, इस
लिये उन विद्याओं के प्रभाव से उन दोनों ने अनेक तरह के सुखों का अनुभव
किया था ।

ऊपर जो हिंसा, भूँठ, चोरी कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप बतलाये
हैं उनका त्याग (एक देश त्याग) करने वाले श्रावक को जुवा खेलना, मद्य
पान करना और मांस भक्षण करने का भी त्याग कर देना चाहिये । यही
ह्यापुराण में भी लिखा है । हिंसांत्यस्तेयोत्यादि :-

अर्थात् :- स्थूल हिंसा, स्थूल चोरी, स्थूल अन्नह्य और स्थूल परिग्रह से विरक्त
होना तथा जुवा, मांस व मद्य का त्याग करना ये आठ मूलगुण कहलाते हैं ।
जुवा खेलने से सदा राग, द्वेष, मोह, ठगी, भूँठ आदि पैदा होते रहते हैं, धन का
प्राप्त भी होता है और जुवा खेलने वाला लोगों में अविश्वास पात्र गिना जाता
है । इसके सिवाय यह जुवा खेलना सातो व्यसनो में सबसे प्रधान है । सबसे
मुख्य है इसलिये जुवा खेलने का त्याग अवश्य कर देना चाहिये । देखो इस ही
उपनिषद् से कुलाल नामके देश में श्रावस्तिपुर नगर का राजा महाराज-केतु
का ही ऐश्वर्यशाली और सुखी राजा था परन्तु जुवा खेलने के व्यसन में पड़कर
वह सब अन्ना खजाना हार गया और सब राज हार गया तथा सब अन्तःपुर
हार गया एवं उसे अनेक तरह के महादुःख भोगने पड़े । इस ही तरह राजा
मुधिष्ठिर को भी जुवा खेलने से राज्य से भ्रष्ट होना पडा और बड़ी ही दुःखित
व्यवस्था भोगनी पडी ।

अहिंसाव्रत की रक्षा करने के लिये मांस का त्याग करना भी आवश्यक
है, मांस भक्षण करने वाले की साधुलोग भी निन्दा करते हैं और परलोक में भी
उसे बहुत से दुःख भोगने पड़ते हैं । इस ही बात को अन्य लोगों ने भी कहा है ।

मांसं भक्षयति प्रेत्येत्यादि :-

बुद्धिमान लोग मांस शब्द का अर्थ यही बतलाते हैं कि इस जन्म में
जिसका मांस खाता है वह भी परलोक में मुझे अवश्य खावेगा (मांस अर्थात्
वह मुझे खायागा यही मांस शब्द का अर्थ है) । मांस प्राणियों का शरीर है
प्राणियों के शरीर को विदारण किये बिना वह मिल नहीं सकता, इसलिये सभी
जैनी लोग उस मांसका परित्याग सदा के लिये कर देते हैं ।

देखो राजा कुंभ के भीम नामका रसोईया था किसी एक दिन जे तिर्थाच का मांस नहीं मिला इसलिये उसने मरे हुए बालक का मांस पका और उसमें सब मसाले डाल कर राजा कुंभ को दिया, उसे भी वह बड़ा अच्छा लगा और तब से ही वह मनुष्यों का मांस खाने का लोलुपी हो गया यह बात वहा की प्रजा को मलूम हुई । अब यह राजा राज्य के अयोग्य है, न समझ कर उसे राज्य से अलग कर दिया ।

इस ही तरह विन्ध्याचल के मलयकुटजवन में खदिरसार नाम का कंगे का राजा था, उसने किसी एक दिन समाधिगुप्त नामके मुनिराज के पुत्र जाकर उन्हे प्रणाम किया, मुनिराज ने उत्तर में धर्म लाभ ही ऐसा कहा खदिरसार ने पूछा कि धर्म क्या है और लाभ किसे कहते हैं ? इसके उत्तर मुनिराज ने कहा कि मांसादिक का त्याग करना धर्म है और धर्म की प्राप्ति होना लाभ है । धर्म की प्राप्ति होने से अर्थात् धर्मपालन करने से स्वर्गप्राप्ति के गुण प्राप्त होते हैं । इस पर खदिरसार ने कहा कि मैं उन सबका (सब तरह के मांस का) त्याग नहीं कर सकता, तब मुनिराज ने उसका अभिप्राय समझा पूछा कि क्या तूने पहिले कभी कौए का मांस खाया है या नहीं ? इसके उत्तर में खदिरसार ने कहा कि आज तक मैंने कौए का मांस नहीं खाया है तो तूने उसके न खाने का व्रत स्वीकार करके मुनिराज के उपदेश से अपने व्रत स्वीकार किया और मुनिराज को नमस्कार कर अपने घर चला गया । उसके बाद किसी एक समय उमी खदिरसार को कोई रोग हो गया उस पर वैद्यों ने इने उपाय बताया कि कौए का मांस खाने से इसका रोग दूर हो जावेगा । इस पर खदिरसार ने प्रतिज्ञा करी कि कण्ठगत प्राण हो जाते पर भी मैं यह काम नहीं कर सकता । मैंने मुनिराज के समीप कौए के मांस का त्याग करने का व्रत स्वीकार किया है । अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करने से सत्पुरुषपणा कंगे रह सकता है ? इसलिये मैं कौए का मांस कभी नहीं खाऊंगा । जब खदिरसार ने ऐसी प्रतिज्ञा की है तब उसका अभिप्राय जानकर उसे कौए का मांस मिलाने के लिये सौरभुष तपस्व का राजा गुरुवीर नामका उसका सहोदर अपने मन्त्र से दाने लगा, उसने मन्त्र बने में वट के वृक्ष के नीचे एक स्त्री को रोंगे देने देखा और उसने कुछ दि बतलाया तब परकीं बंटी हुई घड़ी कपो रो रही है । कहे उम्भर ने उम स्त्री ने बतला दि मैं कभी हूँ । तेरा माया जो मृत है । तूने बतलाया है और दिग्गने कौए के मांस मक्षण करने का व्रत विदा है ।

व्रत के फल से मरकर मेरा पति होने वाला है, परन्तु तुम लोग जाकर
 मेरे कौए का मांस खिलाकर उसे नरक में भेजने का काम कर रहे हो इसलिये
 रो रही हूँ। उस स्त्री की यह बात सुनकर उससे शूरवीर ने कहा कि तू
 विश्वास रख, मैं यह काम नहीं करूँगा अर्थात् उसको कौए का मांस नहीं
 खिलाऊँगा ऐसा कहकर वह अपने साले के पास पहुँचा उसे देखकर वह कहने
 लगा कि शरीर का रोग दूर करने के लिये तुझे मांस का उपयोग करना चाहिये
 अपने प्यारे बहनोई के वचन सुनकर खदिरसार ने कहा कि हे ! शूरवीर तू मेरे
 भाण्डों के समान प्यारा भाई है तुझे मेरे कल्याण करने वाले वचन कहने चाहिये,
 परन्तु ये तुम्हारे वचन मेरा कल्याण करने वाले नहीं है क्योंकि ये वचन मुझे
 नरक गति में ले जाने वाले हैं। इस प्रकार यदि मुझे मरना पड़ेगा तो मर
 जाऊँगा परन्तु अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ूँगा। इस प्रकार वचन सुन कर और
 उसका अभिप्राय जानकर शूरवीर ने उसके लिये उस यक्षी का कहा हुआ सब
 हाल कहा, -उसे सुन कर खदिरसार ने भी अहिंसा आदि श्रावक के सम्पूर्ण व्रत
 धारण कर लिये और आयु के अन्त में मरकर वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ।
 इधर शूरवीर ने उसके शरीर की अन्तिम सब क्रियायें की और फिर अपने नगर
 की ओर चलने लगा, तब मार्ग में वही यक्षी (यक्षिणी) फिर मिली; शूरवीर
 ने उससे पूछा कि वह मेरा साला मेरा पति हुआ ? इसके उत्तर में उस यक्षी ने
 कहा कि उसने श्रावक के समस्त व्रत स्वीकार कर लिये थे इसलिये वह व्यन्तर
 देवों की गौण गति में उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु गौण गति से विमुक्त होकर सौधर्म
 स्वर्ग में उत्तम देव हुआ है इसलिये वह मेरा पति होने से छूट गया है और
 उत्तम दिव्य भोगों का अनुभव कर रहा है। यक्षी की यह बात सुनकर शूरवीर
 अपने हृदय में विचार करने लगा कि देखो व्रतों का प्रभाव कसा है ? यह व्रतों
 का प्रभाव इच्छानुसार समस्त फल देने में समर्थ है यही निश्चय कर उमने
 श्रीसमाधिगुप्त मुनि के समीप श्रावक के समस्तव्रत स्वीकार कर लिये। इधर
 खदिरसार ने दो सागर तक दिव्य भोगों का अनुभव किया और भोगों का
 निदान कर आयु पूरी होने पर वहाँ से च्युत हुआ तथा प्रत्यन्तपुर नामके नगर
 में मुमित्र नामका मित्र राजा का पुत्र उत्पन्न हुआ। वहाँ पर उमने सम्पन्न
 रहित होकर तपश्चरण किया और मरकर व्यन्तरदेव हुआ फिर वहाँ ने प्रावर
 राजा कुणिक की रत्नः श्री.मतीदेवी के धर्मिणव नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। इनमें

... किं च ...

मद्यस्य विनाशिनो रोगा गानानां च गन्धानां च कर्तृ-
कार्त्तव्यं नास्ति । मद्यस्य भोजनो जलस्य स्मृतिं विनाशयति, विनाश
स्मृतिकः किं न करोति, किं न भाषते, कस्यस्यै न मद्यस्यि,
सर्वे जीवानामग्नयः तदेव न मद्यस्य चान् ।

तथाहि :- रजिन्नुं चारुणो गुणो गताम्नातार्थी मन्त्रशतवीप्रदेतो
प्रहसनशोचिनं नदिगमरोऽमत्तानं कान्तामर्हितानवरणं शनिपथं मांम-
भक्षणं सुरापानतार्योमगर्भं भयताऽन्यदमनर्भो हरणीयमन्यया भयंतं
ध्यापादयामोऽधुस्तः तित्तलीस्यतामृष्टः प्राप्यमन्त्रासंभक्षणं पापोप-
लेपो भवति, शवरोत्सर्गं जातिनाशः मन्त्रायते, विष्टोदकमुद्धात-
षपादिसमुत्पन्नं निरवद्यं मद्यमिदं पियामीति पीत्वा विनष्टस्मृति-
राम्यगमनमभक्ष्यमक्षणं च कृतवान् । तथाहि-मद्यपाषिनामपराधाद्-
द्वीयायनं नृनिकोपाद्मस्मीभूतायां द्वारवत्यां विनष्टायादद्या इति ।

“मत्तो हिनस्ति सर्वं मिर्या प्रलयति विवेकविकलतया
मातरमपि कामयते सावद्यं मद्यमत एव ॥”

अर्थ :- मद्य मेवम करने वाली को (मद्यार आदि नशे को चीजे माने पीने
वालों को) तो हित ग्रहिन वा कुछ विनाश नहीं रहता । क्या कहना चाहिये
क्या नहीं, कहा जाता चाहिये कहां नहीं तथा क्या करना चाहिये क्या नहीं ।
आदि किसी बात का ध्यान नहीं रहता है । जो मनुष्य मद्य मेवम करता है
उसको स्मरण शक्ति सब नष्ट हो जाती है और जिसको स्मरण शक्ति नष्ट
हो जाती है वह कौनसा पापनाश नहीं कर सकता कौनसा यजन नहीं कर
सकता और कौन से कुमार्ग में नहीं जा सकता । अभिप्राय यह है कि मद्य का
सेवन करना सब दोषों का स्थान है । इस ही बात को दिग्गजाने (बताने) वाली
कथा यहां पर लिखी जाती है ।

कोई एक ब्राह्मण यज्ञ ही गुणवान था । वह गयास्नान करने के लिये
चला, मार्ग में वह एक जगल में होकर जा रहा था कि इतने में हंगी भ्रजक
करने वाले और मद्य के मद ने उन्मत्त हुये एक भीलने आकर उसे रोक लिया ।

भील के साथ उसकी स्त्री भी थी। भील ने आकर उस ब्राह्मण को रोक कर कहा कि तुम या तो मांस भक्षण करो या मद्य सेवन करो (शराब पीओ) अथवा इस स्त्री के साथ संसर्ग करो यदि इन तीनों में से तुम कोई भी काम न करोगे तो मैं तुम्हें मार डालूंगा। ब्राह्मण देवता उस भील की यह बात सुन कर बड़े विचार में पड़ गये सोचने लगे कि मांस प्राणियों का अङ्ग है उसके भक्षण करने से बड़ा भारी पाप लगेगा और इस भीलनी के साथ संसर्ग करने से जाति का नाश हो जायगा ! हाँ यह मद्य केवल थोटा हुआ पानी गुड़ और धातुके फूल आदि से बना है इसलिये यह निर्दोष है इसके पीने में कोई दोष नहीं है, यही समझ कर उसने वह मद्य पी लिया, जब वह वेहोश हुआ और उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो गई तब उसने अगम्यगमन (उस भीलनी के साथ संसर्ग) भी किया और अभक्ष्य भक्षण (मांस भक्षण) भी किया। देखो ! मद्य पीने के अपराध से ही द्वीपायन मुनि को क्रोध हुआ था उस ही क्रोध के कारण द्वारिका नगरी सब जल गई थी और यादव लोग सब नष्ट हो गये थे।

मत्तोहिनस्ति सर्वमित्यादि :-

अर्थात्-शराब के नशे में मदोन्मत्त होकर यह जीव सब जीवों की हिंसा करता है, विवेक रहित होकर मिथ्या प्रलाप करता है और माता के साथ भी काम वासना प्रकट करता है इसलिये मद्य का सेवन सब पापों से भरा हुआ है।
विशेष :- जैन वाङ्मय में पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत बतलाये हैं क्योंकि गुणव्रत अणुव्रतों को महाव्रत रूप बनाने का गुण रखते हैं अतः उनको गुणव्रत कहते हैं।

तीन गुणव्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत वे भी अणुव्रतों को महाव्रत रूप होने की शिक्षा देते हैं। अतः उनको आचार्यों ने शिक्षाव्रत कहा है तथा प्रमवर्ती रक्खा है।

तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ही मिलकर भातशीलव्रत कहलाते हैं। जब प्रतिभा पालन करते समय व्रत प्रतिभा ग्रहण की जाती है तो निरतिचार पाँच अणुव्रत लिये जाते हैं इसके बाद में अतिचार शील मन्त्रक ग्रहण करते हैं; जैसे ऊपर की प्रतिभा ग्रहण की जाती है वैसे-वैसे ही उनको अतिचार दूर करने पड़ते हैं।

— सप्तशील व्रत समाप्त :-

(३) सामायिक प्रतिमा का यणन :-

“सामायिक संध्याव्येऽपि भुवनत्रय स्वामिनं, वंदमानो वध्य-
माण व्युत्सर्गंतपसि कथित क्रमेण ।

द्विनिष्पन्नं यथाजातं द्वादसवर्तमित्यापि,
चतुर्नति त्रिशुद्धं च कृतिकर्म प्रयोजयेत् ॥

अर्थ :- सामायिक प्रातः काल (मन्वेरे) मध्याह्न (दोपहर) और सायंकाल (शाम) तीनों समय करना चाहिये और वह तीनों लोकों के स्वामी भगवान् जिनेन्द्र देव को नमस्कार कर आगे जो व्युत्सर्ग नामका तपश्चरण कहेंगे उन्हें कहे हुए क्रम के अनुसार करना चाहिये ।

अर्थात् :- खड़े होकर अथवा बैठकर इन दो ही आसनों से उत्पन्न हुए बन्धु के समान निर्विकार होकर चारों दिशाओं में बारह आवर्त करना चाहिये । चारों दिशाओं में चार नमस्कार करना चाहिये, मन वचन काय तीनों को शुद्ध रखता चाहिये और इस तरह अपना कर्त्तव्य कर्म करना चाहिये ।

(१) सामायिक प्रतिमा :- अस्य सामायिकस्यानंतरोक्तं शीतं
सप्तकांतगतं सामायिक व्रतं व्रतिकस्य शीलं भवतीति ।

अर्थ :- जो सात शीलों के अन्तर्गत सामयिक कहा है वही सामायिक इस सामायिक प्रतिमा पालन करने वाले श्रावक के व्रत हो जाता है और दूसरी व्रत प्रतिमा पालन करने वाले के वही सामायिक शील रूप से रहता है ।

विशेष :- सत् एकत्वेन आत्मनि श्रायः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य
उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः, अयम् अहं ज्ञाता दृष्टा च इति
आत्मविययोपयोगः, आत्मनः एकस्यैव ज्ञेयज्ञायकस्य संभवात् । अथवा
समे रागद्वेषाभ्यां अनुपहृते मध्यस्यै आत्मनि श्रायः उपयोगस्य प्रवृत्तिः
समायः स प्रयोजनं अस्य इति सामायिकं ॥

अर्थ :- अपने आत्मा के बिना सर्व परद्रव्यों से अपने उपयोग को हटा कर
[श्री गोपट्टमार संस्कृत टीका श्रुतज्ञान प्र० अमरचन्द्र]
पाने आत्मस्वरूप में ही एक रूप होकर उपयोग को प्रवृत्त करना अर्थात् यह
अनुभव करना कि मैं ज्ञाना दृष्टा हूँ (क्योंकि एक ही आत्मा जानने वाला ज्ञात
भी है और जानने योग्य ज्ञेय भी है) नौ समाय है अथवा रागद्वेषों को हटाकर
साध्यतय भावतय गमता में खीन गया जो आत्मस्वरूप में ही रहने वाला है

लाना (लगाना) सो समाय है । जिस प्रिया का समाय करना प्रयोजन हो
नको सामायिक कहते हैं ।

(४) प्रोपधोपवास प्रतिमा :-

प्रोपधोपवासः मासे चतुर्ध्वपि पर्व दिनेषु स्वकीयां शक्तिमनि-
ह्य प्रोपधनियमं मन्यमानो भवतीति व्रतिकस्य यदुक्तं शीलं प्रोप-
धोपवासस्तदस्यव्रतमिति ।

अर्थ :- प्रोपधोपवास प्रत्येक महिने के चारों पर्वों में अपनी शक्ति को न छिपा
कर तथा प्रोपध के सब नियमों को मानकर करना चाहिये । व्रती श्रावक के जो
प्रोपधोपवास शील रूप से रहता था वह प्रोपधोपवास इस चौथी प्रतिमावाले के
रूप से रहता है ।

विशेष :- सामायिक किसी दसा, चारि प्रहरलों होय ।

अथवा आठ प्रहर रहे, प्रोसह प्रतिमा सोय ॥

[ना० स०] प० बनारसीदासजी

अर्थ :- इस प्रोपध प्रतिमा में सामायिक जैसी ही स्थिति है चार पहर अथवा
आठ पहर की प्रोपधोपवास व्रत प्रतिमा होती है ।

(५) सचित्त त्याग प्रतिमा :-

सचित्तव्रतो दयामूर्तिमूलफल शाखाकरीरकंदपुष्पबीजादीनि न
भक्षणत्यस्योपभोगपरिभोग परिमाणशीलव्रतातिचारोव्रतं भवतीति ।

अर्थ :- सचित्त विरत प्रतिमावाला दया की मूर्ति होता है और वह मूल, फल-
शाखा, करीरकंद, पुष्प और बीज आदिकों को कभी नहीं खाता है । उपभोग
परिभोग परिमाण शील के जो अतिचार है उनका त्याग ही इस पांचवी प्रतिमा
वाले के व्रत कहलाता है ।

सचित्ताचित्त का विशेष विवेचन :-

“दयार्द्रं चित्तो जिनवाक्यवेदी, न बलभते किंचन यः सचित्तम् ।

अनन्यसाधारण धर्मपोषी, सचित्तमोची स कपायमोची ॥७१॥

[अ० आ० ७ वां परिच्छेद]

अर्थ :- दया कर भीगा है चित्त जिसका जितेन्द्र के वचनों को जानने वाला,
ऐसा पुरुष कुछ भी सचित्त नहीं खाता है ।

“फलपलासपल्लवकुसुमादिकायं स्त्रीकृत्य त्रोटनभक्षणमर्दन-

पेषणदहनादिभिस्तथा गुल्मलतापादपादिकं तनूकृत्य छेदनेन भेदनेनो-
त्पाटनेन, रोहणेन, दहनेन च, क्लेशमाजनतामुपधातोऽस्मि” ।

[मगवती आराधना गायत्रि १६८ विजयोदय टीका पृष्ठ १११]

अर्थ :- जब मैंने (जीवक) अग्नि शरीर को छोड़ कर फल, पुष्प, पत्र, कोंपल आदि को शरीर रूप से धारण किया था; तब लौडना, गाना, मर्दन करना, दाँतो से चवाना, अग्नि पर भू जना इत्यादि प्रकारों से मुझे जनता ने दुःख दिया। जब मैं (वनस्पति काय जीव) झाड़ लता, छोटे पेड़ इत्यादि रूप से जन्मा तब छेदन करना, भेदन करना, उखाड़ना, एक जगह से उठाकर दूसरे स्थान पर रोपना, जलाना इत्यादि अनेक प्रकार के जो दुःख भोगने पड़े, उनका वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। इस प्रकार टूटे हुए पत्र, फल, पुष्प, बेल, लता बर्गरह तथा अंकुरों में जीव होते हैं। यह बात जैनाचार्यों ने अनेक ग्रन्थों में स्वीकार की है।

कायः शरीर वनस्पतिकायिकजीवपरित्यक्तः वनस्पतिकायः
मृतमनुष्यादिकायवत्” ।

[राजवादिंक] “भरलक स्वामी”

अर्थ :- मनुष्य को कामवत् माना है अर्थात् मनुष्य की काम में जब पंचेन्द्रिय मनुष्य का जीव रहता है तत्पश्चात् आयुक्षय होने पर मृतक मनुष्य के शरीर में अग्नन्त मैंने पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीव पैदा हो जाते हैं और होते रहते हैं। मृत दृष्टी हुई वनस्पति चाहे साधारण हो अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो या सप्रतिष्ठित प्रत्येक हो उसमें जीव है अर्थात् जब तक वह हरी है, तब तक उसमें जीव है। मृते विना या अग्नि पर पचाये विना उसमें से जीव नहीं जाते। आगे वनस्पति का मृत्यु विवेचन किया जाता है अर्थात् उसके भेद प्रभेदों की व्याख्या करते हैं।

वनस्पति के भेद :- वनस्पति नामा नाम कर्म के उदय से जो जीव संसार में वनस्पति शरीर के धारण करता है उसे वनस्पतिकायिक कहा गया है। वनस्पति के दो भेद हैं :- (१) साधारण (२) प्रत्येक

(१) साधारण वनस्पति :- इनके दो भेद हैं (१) वादर (२) सूक्ष्म । इन दोनों भेदों में निर्गोदिया जीव हुआ करते हैं। सूक्ष्म साधारणनिर्गोदिया जोड़ मो धों के धरे के समान समस्त संसार में टमाटम भरे हुये हैं। वही जो बरत सातों नगी है। वादर साधारण वनस्पति काय चित्रा पृथ्वी में सुमेरु पृथ्वी के नीचे सात (७) गन्ध सातान है, त्रिगामें (६) राजू में तो (७) नरक है।

द्विरे एक राज् के गोने खान में यह बाहर नाकारण निर्गोद है जो कि उमा-
 टम नरे हुये हैं । भगवान सर्वज्ञ देव ने इनकी मन्त्रा प्रध्यानान्न बनवाई है,
 यही भी बनस्पति काचित वृक्ष उत्पन्न होने है तथा उगने के बाद या उन वर्गक
 वा गन्धर्व मिलने पर येगी लक्षण वाली बनस्पति बहनादन में पैदा होगी है ।

बनस्पति में जीव है यह बिना जीव के नहीं होती इनका सम्पूर्ण साम्राज्य
 के बनाया प्रत्य प्रपों में जानना चाहिये ।

“मूना बीजा यदा प्रीयता, फलसुखाद्यद्विदादयः ।

न गक्ष्याः क्षययोगाद्वा, रोगिणामप्योषधिश्चनात् ॥८०॥

तद्मन्त्रने महापापं प्राणिसन्दीहपीडनात् ।

सर्वजाजायलादितद्, दर्शनीयं दृग्दृग्भिः ॥८१॥ (२०-१०-२०-३०)

वर्षः- सूत्र, बीज, पत्र बीज धरम धारि यन्तु लक्षण कथने नरे सामने
 चाहिये । यदि बहानिन् देव योग में समस्तवामना में वेदमण्य बीजनि में साज
 बगवत देव भी नारी लक्षण बने बगोकि उगने नारी में सगन्तु पावकण्य होना है,
 जीवों के समूह ही जिया हो तो है । सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा का अनुसरण है
 कारण कि भगवान् ने कहा है कि कथने यथा तथा बीजा में प्रवेश कियाकर
 की शक्ति होती है । एवं उगने नारी में सर्वज्ञ की आज्ञा अनुसरण का ही
 सगन्तु पावकण्य होता है ।

“आमनारंगमज्जं, बरुण्यदि भय कर ।
 गर्दभीनदिज्ज सुत्त, निम्ब्यादिज्जगय तथा ॥८४॥
 गोप्रमतिनसकृत्तानि, सुम्बसकृत्तानि ॥
 एमाजीगदिज्ज बीज, सुम्ब बीज समदिज्जगय ॥८५॥
 सुम्बवेगदिज्ज हन्त सुम्ब सुम्बदि ज्जगय ।
 सताकृत्तान्ता, सताकृत्तान्ता ॥८६॥
 सताकृत्तान्ता, सताकृत्तान्ता ॥
 सताकृत्तान्ता, सताकृत्तान्ता ॥८७॥
 सताकृत्तान्ता, सताकृत्तान्ता ॥८८॥
 सताकृत्तान्ता, सताकृत्तान्ता ॥८९॥

अत्र प्रागुक्तमथाततं, नीरंत्याज्यं व्रतान्वितैः ॥६६॥
 चारित्र्यात्मोपवर्णादि, त्यक्तं द्रव्यादियोगतः ।
 तप्तं याच्नाग्निनाऽदेयं, नयनाभ्यां परीक्ष्य भोः ॥७०॥
 अथ त्वयमर्कं पक्वं वा, कन्दबीजफलादिकं ।
 सच्चित्तं नाति यस्तस्य, पंचमीप्रतिमा भवेत् ॥७१॥
 सच्चित्तं नाति योधीमान्, सर्वप्राणिसमायुतं,
 यमामूर्तं भवेत्तस्य सफलं जीवितं भुवि ॥७२॥
 सच्चित्तं जीवसंयुक्तं, ज्ञात्वा योऽश्नाति दुष्टधीः ।
 एतज्जिह्वालम्पटात् किं सः स्वं वेत्ति मरणं च्युतं ॥७३॥
 प्राणनास्येयं सच्चित्तं, यस्तस्य स्यान्निर्ययं मनः ।
 गमो निर्दयतः पापं जायते स्वभ्रसाधकम् ॥७४॥ [आदिभूत]

भाषा — आम, नारंगी, खजूर, कदली आदि वृक्षोसे होने वाले फल, जिन वृक्षों
 में पूरा विपत्तता है उनके फूल, तथा नीम आदि के फूल सच्चित्त हैं । ६४।

मूँ, तिल, धान, मूँग, चना आदि तथा इलायची, जीरा आदि के अन्न
 [१०] मंगे बीज सक्ति अशेषा सच्चित्त है । ६५।
 अदरक आदि कन्दमूल, गीलेवृक्ष की छाल व डाली तथा कोपल आदि

भी सच्चित्त है नागवेल (नागरवेल) आदि के पत्ते भी सच्चित्त हैं, इन सभी सच्चित्त
 पदार्थों का सच्चित्तत्याग प्रतिमाधारी त्याग दे । ६७।
 अग्नि में कम पके अथवा ज्यादा पके व जिनमें चेतना गुण पाया

ध पदार्थ सच्चित्त त्याग प्रतिमाधारी को ग्रहण करने लायक नहीं है । ६८।
 जिनमें अपने रूप को नहीं छोड़ा है तथा स्पर्श में फरक नहीं पडा है
 ऐसा बराबर प्रागुक्त नहीं हुआ है, बिना तथा हुआ जल सच्चित्तत्याग प्रतिमाधारी
 को त्यागने योग्य है । ६९।

किसी भी पदार्थ के मयोग में अपने वर्णादि को छोड़ देने वाला जन
 तथा आपने तथा हुआ जन प्राणों में परीक्षण करके ग्रहण करना चाहिये । ७०।
 जो बिना पके हुए तथा आधे पके हुए सच्चित्त कन्द, बीज, फल आदि को
 नहीं खाना है उनके पाचकों प्रतिमा होती है । ७१।
 हम पृथ्वी तल पर हम दयानु व्यक्ति का जीवन सफल है जो बुद्धिमान् ।

प्राणियों सहित सचित्त पदार्थों को नहीं खाता ।

जो दुर्बुद्धि सचित्त पदार्थों को जीव सहित जानकर जीभ की संपटता से उन्हें खाता है वह अपने को जन्ममरण रहित कर्मे जान सकता है । ७३।

जो व्यक्ति सचित्त को खाता है उसका मन निर्दयी होता है और मन की निर्दयता से नरक प्राप्त करने वाले पाप का बन्ध करता है । ७४।

“साहारणोदयेण णिगोदशरीरा हवन्ति सामण्णा ।

ते पुण दुविहाजीवा, वादर सुहुमाति वियणेया ॥१६१॥ [गो. जी]

अर्थ :- जिन जीवों का शरीर माधारण नामकर्म के उदय के कारण निगोद-रूप होता है उन्हीं को सामान्य या साधारण कहते हैं । इनके दो भेद हैं—एक वादर दूमरा मूढम ।

भाषार्थ :- जिन जीवों के साधारण नामकर्म का उदय होता है उनका शरीर इस प्रकार का होता है कि जो अनन्तानन्त जीवों को समान रूप में प्राण्य दे सके इस शरीर में एक जीव मुख्य नहीं रहता अनन्तानन्त जाय रहते हैं और ये भी सब समान रूप में रहते हैं, यही कारण है कि इन जीवों का नाम सामान्य-तया साधारण है । इनके दो भेद हैं—एक वादर और दूमरा मूढम ।

नि-गो-द = (इत्यर्थः) - नियतां निश्चितां गां भूमिमाश्रयां ददाति यत् तत् निगोदं शरीरं येषांते निगोदशरीराः । एषमिमप्रेष नियते शरीरे ये अनन्तानन्ता अपि जीवाः समान रूपेण यमन्तिते निगोदशरीराः “साधारण भग्यन्ते, साधारणं शरीरं येषांते” इत्यादि ।

[यत् तत्तदयम् ? इति २॥]

उक्तं “यत् तत्तदयम्” के वाक्य में और भी अन्तर्ज्ञेय उक्त है । संकृत करने होने में अन्तर्ज्ञेय के कारण अर्थ नहीं मिलता क्या है ।

“साहारणमाहारो, साहारणमाणसान महं च ।

साहारणजीवाणं, साहारणत्वज्ञं चण्डिनं ॥१६२॥ [गो. जी.]

अर्थ :- इनके साधारण कर्म कहते हैं? इन साधारण जीवों का साधारण शरीर समान ही भी अन्तर्ज्ञेय होता है और साधारण अन्तर्ज्ञेय कर्म एक साथ ही अन्तर्ज्ञेय साधारण का अर्थ होता है । इस तरह साधारण जीवों का अन्तर्ज्ञेय साधारण ही कहाया है ।

भाषार्थ :- साधारण ही अन्तर्ज्ञेय होने वाले अन्तर्ज्ञेय साधारण अन्तर्ज्ञेय अन्तर्ज्ञेय

आहारादि पर्याप्त और उनके कार्य सद्गुण तथा समान काल में होने हों वनता साधारण जीव कहते हैं ।

“जत्थे वक्कमरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हव्वे अणंताणं ।

वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥१६३॥ [मो. ३.]

अर्थ :- साधारण जीवों में जहाँ पर एक जीव मरण करता है वहाँ पर अनेक जीवों का मरण होता है और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनेक जीवों का उत्पाद होता है ।

भावार्थ :- साधारण जीवों में उत्पत्ति और मरण की अपेक्षा भी सद्गुण है । प्रथम समय में उत्पन्न होने वाले साधारण जीवों की तरह द्वितीयादि समकों में भी उत्पन्न होने वाले साधारण जीवों का जन्म मरण साथ ही होता है । इस इतना विशेष समझना कि एक वादर निर्गोद शरीर में या सूक्ष्म निर्गोद शरीर में माय ही उत्पन्न होने वाले अनन्तानन्त साधारण जीव या तो पर्याप्तक ही होते हैं या अपर्याप्तक ही होते हैं किन्तु मिश्रण नहीं होते क्योंकि उनके समस्त कर्मोदय का नियम है ।

खंडा असंखलीता, अण्डरआवासपुलविदेहा वि ।

हेट्टिल्ले जोगिगाओ असंखलोमेण गुणिदकमा ॥१६४॥ [मो. ३.]

अर्थ :- स्फुण्डों का प्रमाण अनन्यथा लोक प्रमाण है । अण्डर, आवास, पुत्रवि त्वादेह ये तम में उत्तरोत्तर अमर्यादलोक, अमर्यादलोक गुणित है, क्योंकि ये सब ही अपस्तनयोनिक है इनमें पूर्व पूर्व आधार और उत्तरोत्तर आधेय हैं ।

भावार्थ :- अनेक योग्य अनन्यथा लोक के समस्त प्रदेशों से गुणा करने पर जो लक्ष्य आवे उतना समस्त स्फुण्डों का प्रमाण है । एक-एक स्फुण्ड में असंखलीता का प्रमाण अण्डर है । एक-एक अण्डर में अनन्यथा लोक प्रमाण आवास है पर-पर आवास में अमर्याद लोक प्रमाण पुत्रवि है । एक-एक पुत्रवि में अनन्यथा लोक प्रमाण वादर निर्गोदिया जीवों के शरीर हैं, इसलिये जब एक स्फुण्ड में अमर्याद लोक प्रमाण अण्डर है तब समस्त स्फुण्डों में कितने अण्डर होंगे इस प्रकार इसका पैरामित करने में अण्डरों का प्रमाण निकलता है । इस प्रकार से अनेक ही पैरामित करने में आवास पुत्रवि और देह इनका भी उत्पन्न करने में अनन्यथा लोक प्रमाण निकलता है ।

इस ही धार को वृत्तान्त द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है :-

“जम्बूद्वीपं भरहो कोसलसागेदतगघराइं वा ।

खंड्यंडर आवासा, पुलवि शरीराणि दिट्टुं ता ॥१६५॥ [गो० जी०]

अर्थ :- जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र कौशलदेश साकेत-अयोध्यानगरी और साकेत नगरी के घर ये क्रम से स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि और देह के दृष्टान्त हैं ।
 भावार्थ :- जिस प्रकार जम्बूद्वीप आदिक एक-एक द्वीप में भरतादिक अनेक द्वीप एक-एक भरतादि क्षेत्रमें कौशल आदि अनेक देश और एक-एक कौशल आदि देश में अयोध्या आदि अनेक नगरी और उस एक-एक नगरी में अनेक घर होते हैं । उस ही प्रकार एक-एक स्कन्ध में असंख्यात लोक, असंख्यात लोक प्रमाण अण्डर, एक-एक अण्डर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास, एक-एक आवास में असंख्यात-असंख्यात लोक प्रमाण पुलवि और एक-एक पुलवि में असंख्यात लोक, असंख्यात लोक प्रमाण वादर निगोदिया जीवोंके शरीर होते हैं ।

इस ही दृष्टान्त के द्वारा वनस्पति काय का स्वल्प फलोंमें आम्न हो या आम्र हो, नारंगी हो या ककड़ी हो, भिण्डी, नुरैया, टीडसी, खरबूजा, सेब, सफाति, निम्बू, मिर्च, अनार, भ्रमरुद, अ गूर आदि किसी भी जाति का स्कन्ध, उसमें संख्यात, संख्यात व अनन्त जीवों का शरीर है इसलिये शास्त्रकारों वनस्पति कायिक फलों को स्पर्श करना, दवाना, तोड़ना, रंधना, पीसना, घना आदि जो भी किया जावे उसमें हिंसा होती है । इस ही कारण गृहस्थ ग पूणं संयमी नहीं हो सकते हैं । वे तो संयम के विचार करने वाले होते हैं, जोकि गृहस्थ अवस्था में श्रावकों को कई प्रकार की आपत्तियाँ हुवा करती हैं इसलिये यदि पूर्ण रूप से संयम न पाना जावे तो एक मास में चार पर्व- (दो टमी दो चतुर्दशी) को अपनी शक्तिके अनुसार संयम पालन करना ही आत्मिक नति का एवं पुण्य बंध का कारण है । इसलिये संसार के दुष्टों से छुटकारा कर आत्मिक सदगुणों की वृद्धि करना ही तो जीव रक्षा का उपाय करो ।

अल्पफलबहुविघातान्मूलकर्माणिश्रुङ्गवेराणि ।

नवनीत निम्ब कुसुमं कंतकमित्येवमवहेयम् ॥६५॥

[भागार धर्मश्रुत ५ अध्याय]

अर्थ :- जिस वनस्पति को कार्य में लेने से फल (लाभ) तो बड़ा हो और न से स्वाधर जीवों की हिंसा हो ऐसे नीले मन्त्रित अदरक, मूली, गाजर, खन, नीम के फूल, केतकी के फूल इत्यादि वस्तुयें जिनमें फल बड़ा और

हिंसा ज्यादा है वह त्याग देने ही योग्य है क्योंकि जरूरी जिह्वा के स्वाद के खातिर असह्यात गुणी हिंसा होने से दुर्गति का बन्ध होता है ।

“नीली सूरण कालिन्दद्रोणपुष्पादिविवर्जयेत् ।

श्राजन्म तद्भुजां हृत्पं फल घातश्च भूयसाम् ॥१६॥

[पुष्पादिविवर्जनात्]

अर्थ :- सचित्त प्रतिमाधारी धर्मात्मा श्रावक पुरुषों को नाली, कमल की सूरण, कालिन्द, तरबूज, द्रोणपुष्प, द्रोणवृक्ष का फूल और आदि शब्द से यह है कि मूली, अदरक, नीम के फूल, केतकी आदि पदार्थों का जीवन पर्यन्त कर देना चाहिये क्योंकि इन पदार्थों के खाने वालों को एक क्षण भर के जिह्वा इन्द्रिय की सतुष्ट करने मात्र का थोड़ा सा फल मिलता है, परन्तु पाने से उन पदार्थों के आश्रित रहने वाले अनेक जीवों का घात होता है, घात का मङ्गल करना ही मसार ताप को बढ़ाना है इसलिये ऐसे पदार्थों जीवन पर्यन्त त्याग कर देना चाहिये । फल, पत्र स्वरूप वनस्पति कोई नहीं है परन्तु इनमें जीवों की बहुत प्रचुरता रहती है इसलिये इनके भाग्य जीव हिंसा वा पाप लगता है । विशेष कर वर्षा ऋतु में हरी वनस्पति (पत्तियों में) को त्यागना ही उचित है । गोबी (गोभी) कचनार के पुष्पों में बहुत जीव होते हैं इनमें स्वादर जीवों की अपेक्षा उस जीवों की अधिक हिंसा होती है । हरे पौधों की पत्तियाँ, पत्तों वाले शाक, पानक, मूली के पत्ते, गोभी के पत्ते, गंजागुला उमली फली आदि का भक्षण नहीं करना चाहिये । पत्तों को शाक का पत्ता मोटा होने में उसमें अनन्त काम जीव रहते हैं अतः त्याग है ।

भावार्थ :- श्रावक तो पर्व दिवसों में शक्ति के अनुगार हरी सब्जियों को त्याग करे ही करे ।

स्तोत्रैश्चेन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्नयोग्य विषयाणाम् ।

शोषस्माश्चरमारणाविरमणमपि, भवति करणीयम् ॥७७॥

[शरीर मंद]

अर्थ - इन्द्रियों के चिन्तनों की व्याप पूर्वक सेवा करने वाले श्रावकों को शरीर शोष घात के अतिरिक्त शोष स्वादर जीवों के मारने वा त्याग भी करना चाहिये ।

इस प्रकार के उपर्युक्त प्रमाणों से उपर्युक्त द्वारा सचित्त का पर्यन्त चिन्तन

गया है। इस पांचवी सच्चित्त प्रतिमाधारी श्रावक को तो शास्त्रोक्त व्रत प्रवृत्त चलना अत्यावश्यक है।

(६) रात्रिभुक्त व्रत प्रतिमा :-

“रात्रिभक्तव्रतः रात्रौ स्त्रीणां भजनं रात्रिभक्तं तद्व्यवहृति
सेवत इति रात्रिं व्रतातिचारा रात्रिभक्तव्रतः दिवाग्रहचारीत्यर्थः।

अर्थ :- छट्टी प्रतिमा का रात्रिभक्तव्रत नाम है। रात्रि में ही स्त्री सेवन करने का व्रत लेना अर्थात् दिन में ग्रहचारी रहने की प्रवृत्ति को रात्रि भक्त व्रत प्रतिमा है। रात्रि भोजन त्याग के अतिचार त्याग इत्यादि रात्रि भक्त व्रत है।

एवं षट् प्रतिमा यावच्छ्रावका गृहिणोऽधमा।

निरुच्यन्तेऽधुना मध्यास्त्रयोऽन्य वर्गिनोऽपि व्रतानि

अर्थ :- इस छट्टी प्रतिमा तक के श्रावक जघन्य श्रावक अर्थात् अष्टमी, नवमी इन तीन प्रतिमा के धारक मध्यम श्रावक वर्गों संज्ञा है।

भाषार्थ :- यह छट्टी प्रतिमा प्रायः कुलीन पुरुषों के ही पालनी है। स्त्री तथा शूद्रों को इसका पालन कठिन है। सतान आदि को औपधि आदि देना तथा प्रमूर्त्त श्रावक वर्गों हो जाता है, जिसमें रात्रि का बचाव सम्पकं रात्रि भोजियों से ही रहता है तथा रात्रि भोजन करते हैं, इसलिये उससे निराकरण प्रशक्य है।

यहाँ पर कोई प्रश्न करे ? कि व्रत नहीं देना चाहिये।

निराकरण (उत्तर) - शास्त्रोक्त पालन तक का अधिकार बताया है।

या पालन वा सर्वथा निषेध है।

विशेष :- इस छट्टी प्रतिमा

प्रारम्भ न करने का, स्वामी

श्री पं० दोलतराव

प्रतिमाधारी के लिये कक्षा है ।

ममाधि नत्र मे उग प्रतिमाधारी को रात्रि में गमनागमन तक का निषेध किया है ।

स्त्रियें भी गृहस्थाश्रम में अपनी शक्ति के अनुसार व्रतों का पालन कर सकती हैं । जैसा आयुष्य का क्रम गगने हुए भी उपहार में महाव्रत माने जाते हैं क्योंकि उसके त्याग की हद (गोमा) ही चुनी है ।

(७) ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिमा :-

ब्रह्मचारी शुक्रशोणितबीज रस रुधिरमांसमेदोऽस्त्रिमज्जा
शुक्रसप्त धातुमयमनेक श्रोतोविलं अपविलं मूत्र पुरीष भाजनंकृमि-
कुलाकुलं विविधव्याधि विधुरमपायप्रायं कृमिमस्मिच्छिष्टाप्यवसान-
मंगमित्य नंगाद्विरतो भवति ।

अर्थ :- सातवी प्रतिमा का नाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है । इस प्रतिमा का पालन करने वाला ब्रह्मचारी समझा जाता है कि यह शरीर शुक्र, शोणित से (रक्त के बीज और माता के रज से) बना हुआ है । रस, रुधिर, मांस, मेदा, हृद्दे, मज्जा और शुक्र (बीज इन मातों धातुओं में भरा हुआ है अनेक इन्द्रिय हैं इसके विल हैं । मल मूत्र का यह वर्तन (पात्र) है, अनेक छोटे-छोटे बीजों के समूहों में भरा हुआ है अनेक तरह के रोगों से व्याप्त है प्रायः नदर है शरीर नाग होने वाला है और अन्त में या तो इसमें अनेक कीड़े पड़ जावेंगे या प्रकृत दिया जावेगा अथवा जानवरों की साकर विष्टा (मैला) कर देगे । इस से शरीर को मत्स्य प्रतिमाधारी नदर समझ कर, कामदेव से सदा बिलक रहता है ।

यो न च याति विकारं युवतिजनकटाक्षवाणविश्रोपि ।

सत्वेऽशरशूरो न च शूरो भवेच्छूरः ॥

संसार बीज भूतं शरीरं दृष्ट्वा वीभत्समनङ्गत्वेन ।

पश्यन्नात्मान्यात्मानं स ब्रह्मचारी नैष्टिकः ॥”

अर्थ :- मंगार का बीजभूत, मन का घट इस शरीर को देख कर पुण्यात्मा पुरुष अणु के अणुओं का स्पर्श या व्यसन विषय रूप वासना को चिन्ताकरा कर उसे मर्यादित कार्य को मन, वचन, कार्य में त्याग देने हैं, वही पुरुष प्रकृत माने है क्योंकि अणु के अणु में अणु के अणु में अनन्त सम्पूर्ण

तेवों को प्रत्यक्ष हिंसा दिग्गती है यानी विषय भेदन में जीवों का विनाश होता है ।

मैयुना चरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः ।

योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना, लिङ्गसंघट्टपीडिता ॥२१-१३॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ :- स्त्री रूप पदार्थ के गुप्त अङ्ग में सदा ही अमल्य संनी पचेन्द्रिय सम्मू-
ल्येन जीव उत्पन्न होते रहते हैं । जो मंथुन सेवन से विनाश को प्राप्त होते हैं ।

मूढ ! ऐसी हिंसा से जीव संसार में महान् कष्ट, शोक, ताप, आक्रन्दन, और
दुःख भोगता है, नरक निगोद का पात्र बन जाता है ऐसा समझकर पुण्यशाली
जीवभी न तो काम सेवन करते हैं न उसका स्मरण करते हैं । वेही प्राणी संसार
रूप सागर से पार होते हैं तथा धन्य माने गये हैं ।

तियथलवास प्रेमरुचि निरखन, वे परिक्ष भाये मृदुबैन ।

पूर्व भोग केलिरस चित्तन, गुरुय अहार लेत चित्त चैन ॥

कर सुचि तन सिंगार बनावत, तिय पर्याक मद्य सुख चैन ।

मन भय कथा उदर भर भोजन, ये नव वाडि कही जिन बैन ॥

और भी कहा है :-

[ना. स.] पं० ब. रासीदासजी

बंरागी अरु बांदरो, तीजी विधवा नारि ।

ये तीनों भूखा भला, धाया करे बिगार ॥

“अनंतशक्तिरात्मेति श्रुतिवस्त्वेव न स्तुतिः ।

यत्स्वद्रव्ययुगात्मैव, जगज्जैत्रं जयत्स्मरम् ॥”

[ज्ञानार्णव]

अर्थ :- इस कामदेव को जीतने की शक्ति इस आत्मदेव में ही है, क्योंकि
आत्मा अनंत शक्तिशाली है; यह श्रुति (सिद्धांत) वास्तविक है, यथार्थ ही है,
कोई स्तुति अर्थात् फोरी बड़ाई नहीं है । आत्म द्रव्य में लीन रहने वाला आत्मा
जगत विजयी कामदेव को जीत लेता है । अठारह हजार शील के भेदों को
समझकर उनके भङ्गाभङ्ग को बचाने से पूर्णशील पावन होता है । उन्ही शील
अठारह हजार (१८०००) भेदों का निरूपण करते हैं ।

शील के १८ हजार भेद :-

स्त्री के मूल भेद दो हैं—(१) चेतन स्त्री (२) अचेतन स्त्री ।

चेतन स्त्री के तीन भेद हैं— (१) मानुषी (२) देवी

(३) तिर्घचनी ।

अचेतन स्त्री के तीन भेद हैं:- (१) काष्ठ की (२) पाषाण व मिट्टी की (३) चित्राम की (लंपक) इस प्रकारसे मिलाकर स्त्री छह प्रकार की होती है ।

अष्टपाहुड़ शास्त्र में चेतन स्त्री संबंधी सतरह हजार दो सौ अस्ती (१७२८०) भेद उल्लिखित किये गये हैं ।

सामान्य चेतन स्त्री के तीन भेद :- (१) मनुष्याणी (२) देवी (३) तिर्यचणी ।

उपर्युक्त चेतन, अचेतन स्त्री के गाय पाप, मन से वचन से शीर का से हुवा करता है, इन को गुणा करने से नव भेद (९) हुए । इनकी प्रवृत्ति इन कारित शीर अनुमोदना से होती है इसलिये इनसे गुणा करने पर सतरह (२७) शील के भेद हुए; यह पाप पाँचों इन्द्रियों से होता है इनके गुणा करने से तो कुल एक सौ पैंतीस (१३५) हुए फिर चारों संज्ञाओं से विभक्त होते हैं इनसे गुणित करने पर पैंतीसो चालीस (५४०) भेद हुए । द्रव्य से तथा मान गुणा करने पर (१०८०) हुए, फिर मूल कपाय के उत्तर भेद सोलह (१६) से गुणा करने पर १७२८० भेद हुए ।

इस तरह स्त्री ३, मन, वचन, काय ३, कृत कारित अनुमोदना ३, इन्द्रिय ५, मज्ञा ४, द्रव्य-भाव २, कपाय १६, इनको परस्पर गुणा करने से चेतन स्त्री संबंधी १७२८० हुए । यथा-- $(३ \times ३ \times ३ \times ५ \times ४ \times २ \times १६ = १७२८०)$ । अचेतन स्त्री संबंधी शीत विराधना के ७२० भेद होते हैं, उनका गुणामा इस प्रकार है । अचेतन स्त्री के भेद:- (१) काष्ठ (२) पाषाण (३) चित्रामकी । इनको मन, काय से गुणा किया, क्योंकि इनके वचन या कान से है नहीं, जो इनमें कुछ कह कर समभायें, इसलिये ६ कोटि हुई, इनको मन के भाव से कृत, कारिता अनुमोदना की प्रवृत्ति से गुणा किया तब अठारह (१८) भेद हुए । ये दोष पाँचों इन्द्रियों से हुए इनकी गुणा करने पर नव्वे (९०) भेद हुए, उनको चार संज्ञाओं से गुणा करने पर तीन सौ साठ (३६०) भेद हुए । दोष द्रव्य शीर भाव में होते हैं उनके गुणा करने पर ७२० हो गये । इस तरह स्त्री ३, मन शीर काय २, कृत कारित अनुमोदना ३, इन्द्रिय ५, संज्ञा ४, द्रव्य भाव २, की परस्पर $(३ \times २ \times ३ \times ५ \times ४ \times २ = ७२०)$ इस प्रकार गुणा करने से चेतन स्त्री १७२८० भेद हुए । चेतन स्त्री सम्बन्धी (१७२

अचेतन स्त्री सम्बन्धी ७२० कुलयोग १८००० मिलाकर (अठारह हजार) भेद शील के हुए ।

इस प्रकार से भगवान् बुन्द कुन्दाचार्य (स्वामी) ने अष्टपाहड़ के शील गहड़ में अठारह हजार भेद करके समझाया है कि शील बिना भवसागर पार ही होता ।

अतः शील समान इस ससार में कोई पदार्थ नहीं । शीलवान् प्राणियों की देव भी सेवा करके अपने को धन्य समझते हैं । कहा भी है —

शील बड़ो संसार में, सब रत्नों की खान ।

तीन लोक की संपदा रही शील में आन ॥

विशेष :- शीलवान् सप्तम प्रतिमाधारी नैष्ठिक ब्रह्मचारी होने पर अपने वृत्तों का विवाह आदि भी स्वयं न करे व न करावे, अन्य कुटुम्बी ही करे व रावे ।

“सीलेसि संपत्तो निरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो ।

कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥६५॥ [गो०जी०]

शीलेश्यं संप्राप्तो निरुद्धनिः शेषास्त्रवो जीवः ।

कर्म रजो विप्रमुक्तो गतयोगः केवली भवति ॥

अर्थ :- जो अठारह हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है और जिसके लोभों के आने का द्वाररूप आश्रय सर्वथा बन्द हो गया है तथा सत्व और अदयरूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूप रज को सर्वथा निर्जरा होने से जो उन्मत्त से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है, उन योग रहित केवली को चौदहवें गुण यान वर्ती अयोग केवली कहते हैं ।

भाषार्थ :- प्रागन में शील के जितने भेद या विकल्प बताये हैं (कहे हैं) उन सब की पूर्णता यही पर होती है, इसलिये वह शील का स्वामी है और पूर्ण विर तथा निर्जरा का सर्वोत्कृष्ट एवं अन्तिम पात्र होने में मुक्तावस्था के नमूना है । ब्रामयोग से भी वह रहित हो चुका है । इस तरह के जीव को ही चौदहवें गुण स्थाव वाला अयोग केवली कहते हैं ।

प्रागम में शील के अठारह हजार भेदों को अनेक प्रकार में बताये हैं; किन्तु उनमें से एक प्रकार जो कि भगवान् बुन्दकुन्दाचार्य ने स्वरचित मूनाचार्य के शीलगुणाधिकार में बताया है उसे ही यहाँ निम्ने है ।

“जोए करणे सण्णा, इंद्रिय भोम्मादि समणधम्मं व ।

अण्णोण्णेहि अमत्त्या, अट्टारस सील सहस्साइं ॥२॥

अर्थ :- तीन योग, तीन करण, चार सजाएँ, पाँच इन्द्रिय, दश पृथ्वीकणिक आदि जीव भेद और दश उत्तमक्षमा आदि श्रमण धर्म इनको परस्पर जुग करते पर शील के अट्टारह हजार (१८०००) भेद होते हैं ।

३ योग, (मनोयोग, वचनयोग, काययोग) ३ अनुभ के लिये प्रवृत्ति करना करण (कृत, कारित, अनुमोदना) है । ४ संज्ञा (आहार, भय, मैत्र, परिग्रह) । ५ इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र) । १० जीव भेद (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक, माधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुन्द्रिय, पचेन्द्रिय) । १० धर्म (उत्तमक्षमा, मार्दव, आजर्ब, सत्य, शीघ्र, मदन, तप, त्याग, आकित्तन, अक्रुचर्य) । $(३ \times ३ \times ४ \times ५ \times १० \times १० = १८०००)$ ।

(८) आरंभत्याग प्रतिमा :-

आरम्भविनिवृत्तोऽसिमसिकृषि वाणिज्यप्रमुखादारंभात्प्राणाति-
पातहेतोर्विरतो भवति ।

अर्थ - घाटवी प्रतिमा आरम्भ त्याग है इस प्रतिमा को धारण करने वाक धारक प्राणियों की हिंसा होने के कारण अग्नि, ममि, कृषि, वाणिज्य आदि धारम्भों में निरक्त रहता है अर्थात् उनका त्याग कर देता है ।

जो आरंभं प कृणदि अण्णं कारयदि णेय अणुअण्णो ।

हिंसासंतट्टमणो, चत्तारंमो ह्ये सोहि ॥३८५॥ [स्वामी कारिकेयपुराण]

अर्थ :- जो धारक गृह वापें सम्बन्धी कुछ भी धारम्भ न करे, धन्य में नहीं बसावे, बड़े उमरों भया नहीं माने, मो हिंसा में भयभीत धारम्भ त्याग प्रवृत्त रहने ? ।

अर्थ - धारम्भ त्यागी को कदाचित् कोई भोजन के लिये न बुलाने तो स्वयं दण्डन करने का नहीं, उमर में निवृत्त्य समाने या नहीं ?

अर्थ - धारम्भ त्यागी को पठने अथवा द्रव्य, शोध, बाल, भाव देन मित करने कि कुछ रूप में कदापि ध्यान नहीं है या नहीं । प्रथम मो धारम्भों को कभी कभी धारम्भ धारण ही नहीं कि उमर धर्म के मानन न मिले या मानन करने को न हो । धारम्भ त्यागी को लिये शोध में जाना ही नहीं धारम्भों को धारण का धारण ही नहीं । धारम्भ त्याग, हिंसा समान घोरों को धारण न करे ।

हमेशा अपने सरीखे त्यागी व्रतियों के साथ ही रहे जिससे सर्वदा धर्म साधन बनता रहे। अकेला फिरने से व्रती भी स्वच्छन्द प्रमादी और दूषण युक्त हो जाता है। जैसा कि बहुधा आज कल देखा जाता है। अतः इस स्वच्छन्दता से बचने। धर्मात्मा जब यह प्रतिमा ग्रहण करे तब देखे कि मेरी स्त्री या मेरा पति क्या पुत्र बान्धवादि मुझे धर्म साधन करावेंगे या नहीं, तब जैसा अवसर हो वैसा व्रत धारण करे ती ठीक, अन्यथा व्रत लेकर छोड़ने से स्वर्ग का पतन और धर्म की हँसी होती है। इसलिये इतनी कपाय दब गई हो तभी ये व्रत ग्रहण करे। कहा भी है :-

यो मुमुक्षुरघाद्विभ्यत्यक्तुं भक्तमपाच्छति ।

प्रवर्तयेत्कथमसौ प्राणिसहरणीः क्रियाः ॥२२ अ. ७॥ [सा०प०]

अर्थ :- जो (मुमुक्षु) मोक्ष की इच्छा करने वाला आरंभ त्यागी पापसे डरता हुआ, भोजन को भी छोड़ने की इच्छा करता है वह जीवों को नाश करने वाली क्रिया कैसे करावेगा ?

प्रतिमा धारण करने के पहिले उस व्रत का स्वरूप पूरी तरह समझ लेवे, बाद में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखे, उचित होवे और पल सके तो व्रतरूप प्रतिमा ग्रहण करे अन्यथा नहीं, केवल देखा देखी करने से तो व्रत भ्रष्ट और पापी होना पड़ता है जिससे बड़ा अकल्याण होता है क्योंकि स्वरूप मगभे विना पालन कैसा ? सप्तम प्रतिमा तक अपनी आजीविका सम्बन्धी सब काम अपने हाथ में कर सकता है जैसे भोजन बनाना, पानी लाना, स्वयंत्र रूप से इधर-उधर जाना आदि। इस प्रतिमा में नहीं कर सकता क्योंकि यह पद ऊँचा है, अपने घर में योग्य पुत्रादि हों तो आरंभ त्याग करे, नहीं तो मज्जम प्रतिमा में ही बना रहना ठीक है। उच्च पदस्य हाँकर नीचा आचरण करके 'ऊँची दूकान फोके पकवान' इस कहावत का चरितार्थ न करे। इस प्रतिमापारी को सवारी मात्र का त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि—(१) धर्मिनगति श्रावणा-धार (२) गुरुपदेन श्रावकाचार (३) भगवती श्रावधना आदि शास्त्रों का कथन है कि सवारी चेतन हो या अचेतन उनमें जीव हिना हुये बिना रह नहीं सकती, इसलिये इसका त्याग विना आरंभ त्याग के बना? सवारी में बैठने में स्वाधीनता तथा विरक्ति का तो नाश हो हो जाना है। हाँ नदी पार जाना आदि अनेकार्य होवे तो नाव में बैठने का त्याग नहीं है क्योंकि इनमें प्रमाद

यथाभागविधानं संनिवेशाविभावकं यद्वचस्तत्संपीजनासत्त्वांद्वात्रि
 शज्जनपदेष्वार्यानामिदेषु धर्मार्थं काममोक्षाणां प्रापकं यद्वचस्तज्जन-
 पदसत्त्वं, राजराजकमित्यादि। ग्रामनगरराजगणपाखण्डजातिकुलति-
 धर्माणामुपदेशकं यद्वचस्तद्देशसत्त्वं ग्रामोवृत्त्याऽऽवृत इत्यादि।
 छद्मस्थजानस्य द्वयवायात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा
 स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्त्वं।
 प्रतिनियतवद्द्रव्यपर्यायाणामागमगम्यानां याथात्म्याऽऽविष्करणं
 यद्वचस्तत्समयसत्त्वं, समयोत्तरवृद्ध्या वालो युक्त्वा पत्योपम इत्यादि।
 सत्यवाचि प्रतिष्ठिताः सर्वगुणसम्पदः, अनृताभिभाषिणं बन्धवोऽप्यत्र
 मन्यन्ते, मित्राणि च विरक्तभावमुपयान्ति, विघ्नान्युदकादीन्प्राप्ये
 न सहन्ते, जिह्वाच्छेदसर्वस्वहरणादिव्यसनभागभवतीति।

अर्थः :- श्रेष्ठ पुरुषों के लिये उत्तम वचन कहना सत्य है। वह सत्य दस प्रकार का है। (१) नाम, (२) रूप, (३) स्थापना, (४) प्रतीत्य, (५) संकीर्ण (६) गयोजना, (७) जनपद, (८) देश, (९) भाव और (१०) समय स

१. नाम सत्य :- सचेतन व अचेतन पदार्थ का चाहे वह अर्थ न भी निरूप हो तो भी केवल व्यवहार चताने के लिये जो किसी की संज्ञा रखी जा उसको नाम सत्य कहते हैं। जैसे किसी पुरुष का अथवा किसी अचेतन व का केवल व्यवहार में पहिचानने के लिये कोई इन्द्र नाम रख ले तो वह सत्य कहलाता है।

२. रूप सत्य :- पदार्थ के उपस्थित न रहने पर भी केवल उसके रूप केवल उम पदार्थ का नाम कहना रूप सत्य है। जैसे किसी पुरुष के बना बिना में यद्यपि भौतन्य का संयोग नहीं है तथापि उसे पुरुष कहना रूपसत्य

३. स्थापना सत्य :- पदार्थ के नहीं होने हुए भी किसी कार्य के लिये स्थापना करना स्थापना सत्य है। जैसे किसी कार्य के लिये चन्द्रप्र स्थापना करना।

४. प्रतीत्य सत्य :- ... प्रतीत्य सत्य :- ...
 ५. संकीर्ण सत्य :- ...
 ६. गयोजना सत्य :- ...
 ७. जनपद सत्य :- ...
 ८. देश सत्य :- ...
 ९. भाव सत्य :- ...
 १०. समय सत्य :- ...

५. संवृति सत्य :- लोक में हृद शब्दों का कहना संवृतिसत्य है । जैसे कमल, पृथिवी (पृथ्वी) आदि अनेक कारणों से उत्पन्न होता है तथापि उसे केवल बीचट से उत्पन्न होने के कारण पञ्जुज कहना संवृति सत्य है ।

६. संयोजना सत्य :- सुगंधित धूप, चूर्ण, वाग्ना और उबटन लेप आदि द्रव्यों में पड़े वाली चीजों का अलग-अलग विभाग कहना तथा पचव्यूह, मकरव्यूह, रंगव्यूह, नवंतोभद्रव्यूह और शीतकव्यूह आदि की रचना का अनुक्रम कहना संयोजना सत्य कहलाता है ।

७. जनपद सत्य :- प्रायं, अनायं आदि के भेद में जो वर्णन देग है उन भेषधर्म, धर्म, वाम, मोक्ष को बनवाने वाले अलग-अलग शब्द व वचनों का कहना जनपद सत्य है । जैसे त्रिगी देश में राजा बहते हैं, त्रिगी देश में राजा बहते हैं ।

८. देश सत्य :- गाव, नगर, राज, गण, पागण्ड, जालि तथा कुल आदि के एवों का उल्लेख करने वाले उनका स्वल्प बनवाने वाले वचनों को देश सत्य बहते हैं । जैसे-जो बाट में पिरा हो उसे गाव कहते हैं ।

९. भावसत्य :- अल्प ज्ञानियों को द्रव्यों के स्वार्थ स्वभाव का ज्ञान नहीं होता । तथापि संयमी मुनि अथवा मयनामपत्र आरक्ष करने हुयों का भावत बहने के ऐसे 'यह प्राणु है' यह 'धन्नायुष' है, इत्यादि जो वचन बहते हैं उन भावसत्य बहते हैं ।

१०. समससत्य :- वाग्नों में ही जानने योग्य एते अविश्विद्य एत इत्य और एतौ वयसो का स्वार्थ स्वल्प प्रकट बहना समससत्य है । जैसे-पुत्रगोभय वयसो की वृद्धि होने से वामन मुनि पञ्चोपम इत्यादि । एत एत एत इत्यार से उच्छ्वाह सत्य है । एत एतएते में एत एत के एत एत एतएतएत इति बहते और अतु दोगने वाले का एते एते का ही विश्वका कहते हैं । एत एत एते इत्यार हो जते है । एत, एतै एत एत इत्यार एत एतएते की विश्वका एत बहने एते की एतएते बह बहते है । एतै एत एतएत एतएत एतएत एत का एत ही जता इत्यार एतै एत एते उल्लेख बहते है । एतै उत एतएते बहते है ।

(६) सत्यसधर्म :- संयमी श्रिया-वर्षणाः पृथगभेदेन । मय-
 गहानविद्यानायक वरानुसरोऽतोऽप्युद्वेगान् कालवतः एत
 वेदानां कृत निष्ठास्य श्रिष्टिः कुलवानः कर्त्तृदासः जयराजः

उपेक्षा संयमः । अप्रहृत संयमस्य समितयः कार्यास्ता उच्यन्ते ।
 ईर्याभायंपणाः दाननिदानपोत्सर्गाः समितयः । तर्तार्यासमितिनार्कर्मो-
 दयाः पादित विनोर्पकद्वित्रिचतुः पञ्चद्वित्रयभेदेन चतुर्द्विद्विश्चतुर्कि-
 कल्पचतुर्दशजीवस्यानाः विधानवेदिनो मुनेधंमार्थं प्रथतमानस्य
 सवितयुदिते चक्षुषोर्विषयग्रहण सामर्थ्यागुपजनयतः । मनुष्यहस्त्यत्
 शकटगोकुलादिचरणपातोपहृतावरणाय प्रालेयमार्गः नन्यमनसः शनैर्ना
 स्तपादस्य सकुचितावयवस्योत्सृष्टपारवदृष्टेयुग्मात्रपूर्वनिरीक्षणत
 हितलोचनस्य स्थित्वा दिशो घिल्लकदतः पूर्वाध्याहारभावाद्दोष
 समितिरित्याख्यायते । हितमितासंदिग्धाभिधानं भाषासमितिः
 मोक्षपदप्रापणप्रधान कलं हितं तद्विद्विधं, स्वहितं, परिहितं चंति
 मितमनर्थक बहुप्रलपनरहितं । स्फुटार्थव्यवताक्षरं वा संदिग्धत्वं
 तस्याः प्रपंचो मिथ्याभिधाना । सूयाप्रियसभेदाल्पसारशंकितभ्रान्त
 कषायपरिहाससंयुक्तासम्यशयननिष्ठुरधर्मविरोधिदेशकालविरोध्य
 संस्तवादिवाग्दोषविरहिताभिधानं । अनगारस्य मोक्षकप्रयोजन
 प्राणिदयातत्परस्यकायस्थित्यर्थं प्राणयानानिमित्तान्तपोवृहणार्थं
 चर्यानिमित्तं पर्यटतः शीलगुणसंयमादिकं संरक्षतः संसारशरीर-
 निर्वेदवयं भावयतो हृष्टवस्तुयायात्म्यस्वरूपं चिन्तयतो देशकाल-
 सामर्थ्यादिविशिष्टमगाहितमभ्यवहरणंनवकोटिपारिशुद्धमेवणासमितिः ।
 पट्जीवनिकायस्योपद्रव उपद्रवणं । अङ्गच्छेदनादिव्यापारो विद्रव-
 णं । संतापजननं परितापनं । प्राणिप्राणव्यपरोपणमारंभः । एव-
 मुपद्रवणविद्रावणपरितापनारंभक्रियया निष्पन्नमद्यं स्वनं कृतं परंण
 कारितं वाऽनुमनितं वाऽधःकर्म (जनितं) तत्सेविनोऽज्ञानादित-
 पांस्यभ्रावकाशादियोगा वीरासनादियोगविशेषाश्च भिन्नभजन-
 भरितामृतवत्प्रक्षरन्ति ततश्च तदभक्ष्यमिव परिहरतो भिक्षोः परकृत
 प्रशस्तं प्रासुकाऽऽहार ग्रहणंपि पट्त्वात्तिरादोषा भवन्ति । तद्यथा-
 पोऽशविधा उद्गमदोषाः पोऽशविधा उत्पादनदोषाः, दशविधा
 एषणादोषाः संयोजनाप्रमाणांगारधमदोषाश्चत्वारः एतैर्दोषैः परि-

व्रजितमाहारग्रहणमेवणासमितिरिति ।

अर्थः— संयम दो प्रकार का है—एक उपेक्षा संयम और दूसरा अपहृत संयम ।

(१) उपेक्षा संयम :— जो मुनि देश और काल के विधानों के जानकार है अन्य किसी की रोक टोक न होने से जिनका शरीर अति उत्तम है जो मन, वचन, काय के तीनों योगों का निग्रह अच्छी तरह करते हैं और तीनों गुप्तियों का पालन अच्छी तरह करते हैं, ऐसे मुनियोंके राग द्वेष का अभाव होना उपेक्षा संयम है (२) । अपहृत संयमी मुनि को समितियों का पालन करना चाहिये । प्रागे उन्हीं समितियों को कहते हैं—(१) ईर्या, (२) भाषा, (३) एषणा, (४) प्रादाननिक्षेप और (५) उत्सर्ग ये पाँच समिति हैं ।

(१) ईर्या समिति :— संक्षेप में जीवो के चौदह भेद हैं—स्थूल एकेन्द्रिय पर्याप्तक, स्थूल एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक ये चार तो एकेन्द्रिय के भेद, द्वीन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक ये दो, द्वीन्द्रिय के भेद, त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक ये दो त्रीन्द्रियके भेद हैं । चौइन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक ये दो चौइन्द्रियके भेद, पञ्चेन्द्रिय संनी पर्याप्तक, अपर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय असंनी पर्याप्तक, अपर्याप्तक ये चार पञ्चेन्द्रिय के भेद हैं । इस प्रकार चौदह भेद हैं और ये सब अपने-अपने नामकर्म के विशेष उदय से प्राप्त होते हैं । जो मुनि इन चौदह जीव स्थानो के भेदो को अच्छी तरह जानते हैं, जो केवल धर्म के लिये ही गमन करते हैं सो भी सूर्य के उदय हो जाने पर तथा जिनके नेत्रों में अपने विषय ग्रहण करने की सामर्थ्य है वे ही गमन करते हैं । मनुष्य, हाथी, घोड़े गाड़ियो, गाय, भैंस आदि के खुरो से जिसकी ठडक निकल गई है ऐसे ठण्डे मार्ग में उसी में अपना चित्त लगा कर धीरे-धीरे अपने चरण रखते हुए शरीर को संकुचित कर अगल-वगल से दृष्टि हटा कर केवल आगे की चार हाथ जमीन पर अपनी दृष्टि डालते हुए चलते हैं यदि किसी दूसरी ओर या सामने भी अधिक दूर तक देखने की आवश्यकता होती है तो खड़े होकर देखते हैं । उनके इस प्रकार चलने में पृथ्वी आदि का कोई आरंभ नहीं होता इसलिये उसे ईर्यासमिति कहते हैं ।

(२) भाषासमिति :— हित मित और सन्देह रहित वचनो को भाषा समिति कहते हैं । भोजन पद की प्राप्ति रूप जो प्रधान व मुख्य फल मिलता है उसको हित कहते हैं वह दो प्रकार का है—एक अपना हित करना और दूसरा अन्य लोगों का हित करना । अनर्थक वचन न कहना तथा बहुत सा वकवाद न

आहार के एषणादोष और संयोजना, अप्रमाण, अङ्गार तथा धूम चार ये दोष इस प्रकार से छियालीस दोष होते हैं। इन सब दोषों को टाल कर आहार ग्रहण करना एषणा समिति है।

तथा चोक्तमपरग्रन्थे :-

अर्थ :- यही बात किन्हीं दूसरे ग्रन्थों में मिली है।

सोलह उद्गमादि दोष :-

अर्द्धा कम्मुदेसिय अज्ज्ञोवज्ज्ञोय पूदि मिस्सेय ।

ठविदे वलि पाहुडिय पादुवकारेय की देय ॥

पामिच्छे परिपट्टे अभिहडमुभिन्न मालमारोहे ।

अच्छिज्जे अणिसिद्धे उग्गमदोसो दु सोलसमो ॥

अर्द्धाकम्मं गृहस्याश्रितं पंचशूनोपेतं निकृष्टव्यापारं पट्जीवनि-
यवधकरं पट्चत्वारिंशदोषवाह्यं उद्देसिय उदेश्यदेयं । अज्ज्ञोवज्ज्ञोय
ति हट्ठ्याऽधिक पाकप्रवृत्तिः । पूदि अप्राशुक मिश्रिताहारः ।
स्सेय असंयतः सह भोजनं । ठुविदे पाकभाजनादन्यत्र निक्षिप्तं ।
लि यक्षादिदत्त नैवेद्यशेषं, पाहुडिय कालं परावृत्य दत्तं । पादुकारेय
क्रमणप्रकाशनरूपं । कीदेय-क्रीतानीतं पामिच्छे उद्धारानीतं । परि-
पट्टे परावृत्याऽऽनीतं । अभिहडं देशान्तरागतवस्तु । उधिभिन्न
भिन्ना बंधापनयनं । मालारोहणमालामाहृत् दत्तं । अच्छिज्जे
त्वाइत्तं अणिसिद्धे निःश्रेण्यादिकमवरह्य दत्तं । एते षोडशोद्गम
पाः भवन्ति ।

शेष-दाता के सोलह उद्गम दोष :- (१) उद्दिष्ट दोष, (२) ग्रह्यधोष,
(३) पूतिदोष, (४) मिथदोष, (५) स्थापितदोष, (६) बलिदोष, (७)
पूतदोष, (८) प्रादुष्करदोष, (९) क्रीतदोष, (१०) प्रादृष्यदोष, (११)
वर्तिकदोष, (१२) अभिहृतदोष, (१३) उद्भिन्नदोष, (१४) मालारोहण-
(१५) अच्छेद्यदोष, (१६) अनिसृष्टदोष । ये सोलह दोष गृहस्य दान
की तरफ से होते हैं।

अधःकर्मदोष इन गाथाओंमें सोलह उद्गमदोष बतलाये हैं जिन्हें टालकर मुनि-
प्राहार लेते हैं। इनके सिवाय एक अधःकर्मदोष बतलाया है जो छियालीस दोषोंमें

(५) भिन्नाशुद्धि (६) धीर-जानता शुद्धि (७) जगन्नामनशुद्धि मोर (८) शान्ति
 ये आठ शुद्धियाँ हैं। जिन प्रकार दो सार गुण होने में उभ पर यत्ना हुआ
 प्राप्तित होता है वैसे ही साठ शुद्धियोंकेपालांगि माना निम्न १ (पौन)क

१. भावशुद्धि -

कर्मों के उपपन्न होने के कारण जो मोक्ष मार्ग में रु
 थदा होती है और उभ भावों के कारण जो व्याघ्रा भे प्रगप्रता व रु
 (निर्मलता) होती है जो कि रागद्वेष भादि गन उदयोके रहित होती है
 भावशुद्धि कहते हैं।

२. कायशुद्धि :-

कायशुद्धिधनिरावरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमल
 निराकृताङ्गविकारासर्वत्रप्रयत्नश्रुतिः प्रशममूर्तिमित्र प्रदशयन्त
 सत्यां न स्वतोऽन्यस्य भयभुज्यापते नाप्यन्यतः स्वस्य ।

अर्थ :- जिसके शरीर पर कोई आवरण व वस्त्रादिक नहीं है जिसके
 सब त्याग दिये गये हैं, जिसके अङ्गों के विकार छोड़ दिये गये हैं, जिस
 सब जगह बड़े प्रयत्न से की जाती है, जो शान्तमूर्ति के समान शिमाई
 और जो उत्पन्न हुये के समान है ऐसे शरीर को धारण करना रूप
 ऐसी कायशुद्धि के होने पर न तो अपने से किसी दूसरे को भय रहता
 किसी दूसरे से अपने को भय होता है।

३. विनय शुद्धि :-

विनयशुद्धिर्हंवादिपरमगुरुषु यथा हंतृपूजाप्रवणा ज्ञानाति
 च यथाविधिभक्तियुक्ता गुरोः सर्ववानुकूलवृत्तिः पश्नस्वाध्याय
 वाचनाकथाविज्ञापनादिषु प्रतिपत्तिकुशला देशकालभरवाचबो
 निपुणाःऽचार्यानुमतचारिणी तामूलाः सर्वसपदः संव भूषा पुष्प
 सौव नीः सांसारसमुद्रोत्तरणे ।

अर्थ :- अरहन्त आदि पाँचों परमेष्ठियोंका यथायोग्य पूजा और विनय क
 शानादिक की विनय करना अर्थात् विधि और भक्ति पूर्वक सब कार्यों में
 जगह गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति रखना, प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना और कथा
 आदि कार्यों के करने में कुशलता रखना, देश का ज्ञान, समय का ज्ञान
 भाव के ज्ञान में निपुणता रखना तथा सदा आचार्यों को आज्ञानुसार

विनयशुद्धि है। यह विनय शुद्धि ही सब तरह की संपदाओं की मूलकारण है, यही पुत्र के लिए आभूषण है और यही संसार रूपी महासागर में पार कर देने के लिये नाव है। ४. ईर्यापथ शुद्धि :-

ईर्यापथशुद्धिर्नानाविधजीवस्यानानांयोनीनामाश्रयाणामेव बोधा-
ज्जनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडाज्ञानादित्यस्वेन्द्रिय प्रकाशनिरीक्षित-
देशगामिनी द्रुतविलम्बितसंभ्रांतविस्मितलीलाविकारादिदोषविरहित-
गमना तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इव सुनीतो ।

अर्थ :- अनेक प्रकार के जीवों के स्थान जीवों की योनियाँ और जीवों के आधारभूत आश्रयों का ज्ञान होने से जिसमें जीवों की पीड़ा दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है और ज्ञान, सूर्य तथा अपनी इन्द्रियों के प्रकाश से मूढ़ जन्तु देखकर गमन किया जाता है तथा जल्दी, धीरे, संभ्रम करना, आश्चर्य, लीला विकार और दिशाओं का अवलोकन आदि दोषों से रहित गमन होता जाता है उसको ईर्यापथ शुद्धि कहते हैं। जिस प्रकार सुनीति इव विभव ठहरता है उसी प्रकार ईर्यापथशुद्धि के रहते हुए जीव सुनीत इव।

५. भिक्षा शुद्धि :-

भिक्षाशुद्धिः परीक्षितोभयप्रचारा प्रमृष्ट पूर्वानुभवान्प्राप्ताना-
नाऽऽचारसूत्रोक्तकालदेशप्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला सामान्यमानव-
मानसमानमनोवृत्तिः गीतनृत्नप्रसूतिकामृतकृष्णकृष्णकृष्णकृष्ण-
दीनानाथदानशालायजनविवाहादिमङ्गलानुष्ठानानामुत्तम-
रिव हीनाधिकगृहविशिष्टोपस्थाना लोकगतिरुत्तमोत्तमोत्तमोत्तम-
दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाऽऽहारगवेषणाप्रविश्यात्तन्निर्दयानिर्दय-
सनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला तत्प्रतिवडा हि उत्तमोत्तमोत्तमोत्तम-
साधुजनसेवानिबन्धना सा तामालामयाः सुखानुभव सुखानुभव-
वद्भिर्भिक्षेति भाष्यते ।

अर्थ :- जिसमें बाल्य और अन्नरहित होने के कारण जिसमें दाता के शरीर की शुद्धि तथा देने के लिये नव विधियों की गई है। आचार सूत्रों के अनुसार जिसमें नवधाभक्ति की

(५)

नीला
सुवती

मिलने में तथा मान और अपमान होने में जिसमें अपने मन की प्रवृत्ति मना रक्खी गई है। जिस भिक्षा में गीत नृत्य होने वाले घर, जिसमें प्रमूर्ति हुई हो अथवा कोई मर गया हो, जिसमें शराव घेची जाती हो, जो वेदया का घर हो अथवा जिसमें कोई पापकर्म होता हो, जो दीन का घर हो, अनाथ का घर हो जो दानशाला हो, यज्ञादि करने का घर हो अथवा जिसमें विवाह आदि बहू कार्य हो ऐसे घर छोड़ दिये जाते हैं। चन्द्रमा की गति के समान जिसमें बड़े बड़े सब घरों में प्रवेश करना पड़ता है। जो कुल व घर, लोक में निदिन जाते हैं वे घर जिसमें छोड़ दिये जाते हो जिसमें अपनी दीनवृत्ति धारण करनी पडती हो और उदासीनता पूर्वक प्रामुख आहार हो हुई जाता हो और शास्त्रों में कहे हुए निर्दोष भोजन के द्वारा प्राणों की रक्षा करना जिसका पत्र समझा जाता हो वह लाभ, अलाभ (भोजन का मिलना न मिलना इन दोनों में) तथा सरस और विरस (रस सहित व नीरस) में समान संतोष रखने वाले भुनियो की भिक्षा कहलाती है। ऐसी भिक्षा से ही चारित्र्य रूपी संपदा और गुण उठर सकते है और भिक्षा ही सपदा के समान साधु लोगों की सेवा करने का कारण होती है। ऐसी भिक्षा को शुद्धि रखना भिक्षानुद्धि कहलाती है।

भिक्षा शुद्धि के पाँच भेद दृष्टान्त द्वारा आचार्य समझाते हैं-

भिक्षाशुद्धिपरस्य मुनेरशनं पञ्चविधं भवति, गोचाराक्षमप्र-
णोदरग्निप्रशमनभ्रमराहारश्वभ्रपूरणनाभभेदेन यथा सलीलसालता
रघुवतिभिरुपनीयमानघासे गौर्न तदंगगतसौन्दर्यनिरोक्षणपरस्तुणमं-
साऽति यथा वा तृणोलपं नानादेशोत्थं यथा लाभमभ्यवहरति, न
योजनासंपदमपेक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेकजनमृदुलतिततनु-
रुपवेपाभिलापविलोकनिरुत्सुख शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेषं चानने-
क्षयमाणो यथाऽऽगतमरणातीति गौरिव चारो 'गोचार' इति ह्यधि-
श्रयते यथा गवेषणेति च। यथा शकटी रत्नभारपूर्णा येन केनचित्-
नेहेनाभितेपं कृत्वाऽभिलषितदेशान्तरं वणिगुपनयति तथा मुक्तिरिति
गुभारन्नपरितो तनुशकटीमनवद्यभिक्षाऽऽयुरक्षम्रक्षणेनामिप्रैतसमाधि-
पत्तनं प्रापयतीति "अक्षम्रक्षण" मिति च नाम दृढं। यथा भाष्य-
गते मनुचित्तमन्त्रं शुचिनाऽशुचिना वा वारिणा प्रसमभयति दूरे
तथा यथानयनेन यतिरत्पुदराग्नि सरसेन विरसेन वाऽऽहारेण प्र-

मयतीत्युदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते । दातृजनवाधया विना कुशलो मुनिभ्रंमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते । येन केन चित्कृतचारेणश्वभ्रपूरणवदुदरगतंमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेणवेति श्वभ्रपूरणमिति च निगद्यते । प्रतिष्ठापनशुद्धिपरःसंयतो नखरोर्मासिघाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च विदितदेशकालो जंतूपरोधमन्तरेण यत्नं कुर्यात्प्रयतते । संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौडशाकुनिकादिपापजनावासा वर्ज्याः श्रुङ्गारविकारभूषणोज्ज्वलवेषवेश्याक्रीडाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलप्रदेशा विकृताङ्गगुह्यदर्शनकाष्ठमयातेव्यहास्योपभोगमहोत्सववाहनदमनायुधव्यायामभूमयश्च रागकारुणानांन्द्रियगोचराः भद्रमानशोककोपसंक्लेशस्थानादयश्च परिहर्तव्याः, अकृत्रिणा गिरिगुहतहकोटरादयो कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो भुक्तयोद्विवादान् । अनात्मोद्देशनिर्वर्तिता निरारंभाः सेव्याः । तत्र संयत्यत्र त्रिविधो-निवासः, स्थानमासनं, शयनंचेति । पादौ चतुर्भुजान्तरं प्रस्थाप्याः घस्तिर्यंगूदूर्ध्वाज्यतममुखो भूत्वा यत्राश्रमनाकं स्वल्पद्वन्द्वीयं सदृशः कर्मक्षयप्रयोजनोऽसंक्लिष्टमतिस्तिष्ठन्, इति च संख्यान्ति-प्रतिज्ञातः पर्यंकादिभिराशनं रासीत, यद्यत्किञ्चिन्नान्येनोपैच्छिन्ने-वंकपार्श्वबाहूपधानसंवृतांगादिभिरल्पकान् श्रवणं श्रवणं श्रवणं ।

भिक्षाशुद्धि के पांच भेद दृष्टान्त श्रवणं श्रवणं श्रवणं है ।

अर्थ :- भिक्षा शुद्धि में सदा तत्पर रहने के लिये श्रवण के विना का है । (१) गोचर (२) अक्षप्रक्षय (३) श्रवण (४) श्रवण (५) श्वभ्रपूरण ये उसके नाम हैं ।

अन्य जैन ग्रन्थों में मुनिगणों के श्रवण के विना कथन किया है -

(१) गोचरी (२) मृमरी (३) श्रवण (४) श्रवण (५) श्रवण

गरतपूरण ये पांच भेद भिक्षाशुद्धि के लिये हैं ।
 (क) गोचरी आहार - श्रवण
 (विनोद) पूर्वक धामपूरण श्रवण



अपने नाखून, केश, नाक (नाशिका) का मल, थूक, वीर्य, मल, मूत्र आदि के मुद्द करने में अथवा शरीर का परित्याग करने में देश और काल दोनों को अच्छी तरह समझकर जीवों को किसी तरह की रुकावट किये बिना ही प्रयत्न करते हुए अपना वर्तव्य करना चाहिये यही प्रतिष्ठापन भिक्षाशुद्धि है।

(७) शयनासनशुद्धि :- इसमें तत्पर रहने वाले मुनिराजों को स्त्रियों का निवास स्थान, क्षुद्रजीव, चोर, जुआरी, मद्य पीने वाले और पक्षी पकड़ कर अपनी जीविका करने वाले आदि पापी लोगों का निवास स्थान छोड़ देना चाहिये। जहाँ पर विवृत अङ्गों के तथा गुह्य चीजोंके काठ (काष्ठ) व रत्न के चित्र बने हों, जो हँसी करने की, भोगोपभोग सेवन करने की, कोई बड़ा उत्सव करने की, सवारों के घोड़ा आदि जानवरों के दमन करने की, शस्त्र रखने की और व्यायाम करने की जगह हो, जहाँ पर इन्द्रियों से दिखाई न देने वाले भी राग उत्पन्न करने वाले साधन हो तथा जो मद, अभिमान, गोंक, कोप (ध्रोव) और संक्लेश के स्थान हो वे सब छोड़ देने चाहिये। जो अपने निमित्त से बनाए नहीं गए हैं और जिनके बनने बनाने में अपनी ओर में किसी तरह का आरंभ नहीं हुआ है ऐसे स्वाभाविक रीति से (अकृत्रिम) बने हुए पर्वत की गुफायें व वृक्षों के कोटर आदि या बनवाये हुए मूने मदान (वसतिका) आदि अथवा जिनमें दूसरे लोगों ने निवास करना छोड़ दिया है या छुटा दिया गया है ऐसे मोचितावास आदि स्थानों में रहना चाहिये।

मुनिराजों का निवास तीन प्रकार का होता है। (१) स्थान—(खड़े होना) (२) आसन—(बैठना) (३) शयन—(सोना) ये तीन प्रकार का निवास मायु एवं मुनिराजों का है। मुनियों को दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रख कर ऊपर की ओर मुँह करके किसी एक ओर मुँह करके अथवा इच्छानुसार जहाँ अपनी आत्मा के परिणाम लगते हैं उधर चाहें जिधर को मुँह करके बिना किसी संक्लेश परिणामों के इस प्रकार खड़े होना चाहिये त्रिममे अपनी आत्मा के बल और वीर्य के समान कर्मों का क्षय बराबर होता रहे। यदि इस प्रकार खड़े होने की शक्ति न रहे अथवा ऐसी शक्ति न हो तो बिना किसी प्रविज्ञा के पर्यन्त (पचामन) आदि में से कोई सा भी आसन लगा कर बैठ जाना चाहिये। यदि मनस्य न हो तो किसी एक करवट में अपनी भुजाओं (बाहों) का तन्वित नया कर शरीर को संकुचित कर (गमेट कर) केवल परियम दूर करने के लिये थोड़ी देर तक सो लेना चाहिये। यह सब शयनासन शुद्धि कहलानी है।

वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकाद्यारंभप्रेरणरहिता युद्धकामकक्रांति-
भिन्नालापयंशून्यपरुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिवृत्तसुका स्वीभ-
वतराण्डावनिपालाऽऽश्रितकयाविमुखा व्रतशीलदेशनादिप्रदानफला
स्वपरहितमितमधुरमनोहरा परमवैराग्यहेतुभूता परिहृतपराल-
निन्दा प्रशंसा संयतस्य योग्या तदधिष्ठाना हि सर्वसंपदइति ।

(८) वाक्य शुद्धि - श्री मुनिरात्रो के मुग्धारविन्द में वचन निकलते हैं, उनमें पृथ्वी काय आदि जीवों को हिमाग्न्य आरंभ को प्रेरणा नहीं होनी उनमें युद्ध की प्रेरणा, काम की प्रेरणा नहीं होनी व कठोर वचन नहीं बोलते। दूसरों के गुप्त विषयो को प्रकट करने वाले अथवा निंदा करने वाले वचन नहीं बोलते व कठिन, निष्ठुर आदि दूसरों को पीडा पहुँचाने वाले नहीं होते। स्त्री कथा, भोजन कथा, देशकथा, और राजकथा इन चारों विकथाम्रो से रहित होते हैं। व्रतशीलों का पालन करना कराना व उपदेश देना ही उन वचनों-का मुख्य फल होता है। इनके सिवाय उनके वचन अपनी आत्मा का हित करने वाले होते हैं, अन्य समस्त जीवों का हित करने वाले होते हैं, परिमित होते हैं, मधुर होते हैं, मनोहर होते हैं और परम वैराग्य को उत्पन्न करने वाले होते हैं। उनमें न तो दूसरों की निन्दा होती है और न अपनी प्रशंसा रहती है। इस प्रकार के मुनियों के योग्य ही उनके वचन निकलते है ऐसे ही वचनों का निरालसना वाक्य शुद्धि कही जाती है। ऐसी वाक्य शुद्धि के होने से समस्त संपदाएँ अपने आप प्राप्त हो जाती है।

चारित्र्य के पाँच भेद :-

अथ - संयमभेदाः साक्षात्मोक्षप्राप्तिकारणान्युच्यते । सामायिकं,
छंदोपस्थापना, परिहारविशुद्धिः, सूक्ष्मसाम्परायः, यथाख्यातचारि-
त्रमिति ।

अर्थ :- सब प्राण संयम के ऐसे भेदों की कहते है जो मोक्ष के साक्षात् कारण है। (१) सामायिक (२) छंदोपस्थापना (३) परिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्म साम्पराय और (५) यथाख्यात चारित्र्य। ये संयम के साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराने वाले पाँच भेद है।

तत्र सामायिकमस्यानंसर्वसावद्ययोगस्याभेदेन प्रत्याख्यानसर्व-

॥ १ ॥
 ॥ २ ॥
 ॥ ३ ॥
 ॥ ४ ॥
 ॥ ५ ॥
 ॥ ६ ॥
 ॥ ७ ॥
 ॥ ८ ॥
 ॥ ९ ॥
 ॥ १० ॥

॥ ११ ॥
 ॥ १२ ॥
 ॥ १३ ॥
 ॥ १४ ॥
 ॥ १५ ॥
 ॥ १६ ॥
 ॥ १७ ॥
 ॥ १८ ॥
 ॥ १९ ॥
 ॥ २० ॥

॥ २१ ॥
 ॥ २२ ॥
 ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥
 ॥ २५ ॥

॥ २६ ॥
 ॥ २७ ॥
 ॥ २८ ॥
 ॥ २९ ॥
 ॥ ३० ॥
 ॥ ३१ ॥
 ॥ ३२ ॥
 ॥ ३३ ॥
 ॥ ३४ ॥
 ॥ ३५ ॥

द्विचारित्रस्य जघन्यविशुद्धिरनन्तगुणा तस्यैवोत्कृष्टा विशुद्धिरनन्त-
गुणा ततः सामायिकछेदोपस्थापनासंयमोत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा ततः
सूक्ष्मसाम्परायचारित्रस्य जघन्यविशुद्धिरनन्तगुणा तस्यैवोत्कृष्टा
विशुद्धिरनन्तगुणा ततो यथाख्यातचारित्राविशुद्धिः संपूर्णा प्रकर्षाप्र-
कर्षाविरहिताऽनन्तगुणा । एवमन्ते पञ्च चारित्रोपयोगाः शब्दविष-
यत्वेन संख्येयभेदाः । बुद्ध्यध्यवसानभेवादसंख्येया । अर्थादनन्तभेदा-
श्च भवन्ति । तदेतच्चरित्रं सर्वास्त्रविरोधकारणत्वात्परमसंवरहेतु
रित्ववसेयं ।

अर्थः— सामायिक से छेदोपस्थापना में अधिक गुण है, छेदोपस्थापना से परि-
हार विशुद्धि में अधिक गुण है, परिहार विशुद्धि से सूक्ष्मसाम्पराय में और सूक्ष्म-
सापराय से यथाख्यात में अधिक गुण हैं, इसी बात को आगे दिखलाते हैं ।
सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र की जघन्य विशुद्धि थोड़ी है उससे परि-
हार विशुद्धि चारित्र की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुणी है तथा परिहार विशुद्धि
चारित्र की उत्कृष्ट विशुद्धि उसकी जघन्य विशुद्धि से अनन्त गुणी है । सामा-
यिक, छेदोपस्थाना चारित्र की उत्कृष्ट विशुद्धि परिहार विशुद्धि चारित्र की
उत्कृष्टविशुद्धि से भी अनन्तगुणी है । इस सामायिक छेदोपस्थापना की उत्कृष्ट
विशुद्धि से भी सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र की जघन्य उत्कृष्ट रहित संपूर्ण विशुद्धि
अनन्त गुणी है । इस प्रकार उपयोग रूप से यह चारित्र पाँच प्रकार का है, शब्द
का विषय भूत होने से इसके संख्यात भेद होते हैं, बुद्धि के विषय भूत होने से
असंख्यात भेद होते हैं । और अर्थ के विषय भूत होने से अनन्त भेद हैं । इन
पाँचों ही प्रकार के चारित्र से सब तरह के आश्रय का निरोध होता है इसलिये
यह सब तरह का चारित्र परम संवर का कारण है ऐसा समझना चाहिये ।

संयम धारण करने का विशेष वर्णन :-

अथ वा व्रतधारणसमितिपालनकषायनिग्रहण्डत्यागोन्द्रिय जयः
संयमः । तत्र हिंसाऽनृतस्तत्याऽब्रह्मपरिग्रहविरतिरिति पञ्चधा
वत् । तत्रेन्द्रियकषायनिग्रहमकृत्वा प्रमत्त इव यः प्रवर्तते स प्रमत्तः ।
पञ्चेन्द्रियमनोवाक्कायबलोच्छ्वासनिःश्वासाग्न्काणि प्राणाः ।

और कर्मायों को नियंत्रण न करके प्रमत्त के समान अपनी प्रवृत्ति करता है उसको प्रमत्त कहते हैं। पाँचों इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय ये तीनबल, श्वासोच्छ्वास और प्राण ये दश प्राण कहलाते हैं और इन प्राणों को धारण करने वाले एकेन्द्रिय आदि जीव प्राणी कहलाते हैं अपने प्रमत्त रूप परिणामों के निमित्त से प्राणियों के प्राणों का व्यपरोपण व घात करना हिंसा है और वह समरंभ, समारंभ, आरंभ नइतानों के द्वारा, मन वचन काय की प्रियारूप तीनों योगों के द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना (करना, कराना और करने को भला मानना) इन तीनों के द्वारा और श्लोष, मान, माया, लोभ इन चारों कर्मायों के द्वारा अनेक तरह के हो जाते हैं। प्रमाद के कारण जीवों की हिंसा करने आदि कार्य करने के लिये प्रयत्न करने का आवेश व इच्छा होना समरंभ है। जिस काम के करने का विचार किया है उसकी कारण सामग्री इददृष्टी करना समारंभ है। सब से पहले उस कामको प्रारंभ करना आरम्भ है। औदारिक शरीर नाम कर्म के उदय होने के कारण पुद्गलों के द्वारा जो इकट्ठा किया जाय बनाया जाय उसको काय (शरीर) कहते हैं। वाक् अर्थात् वचन दो प्रकार के है - एक भाव वचन दूसरा द्रव्य वचन। वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम होने से तथा अज्ञोपाङ्ग नामकर्म के लाभ का निमित्त मिलने से भाववचनों की प्राप्ति होती है इसलिये भाव वचन भी पौद्गलिक है। उस भाव वचन की सामर्थ्य प्राप्त होने से क्रियावान् आत्मा के द्वारा प्रेरणा किये हुए जो पुद्गल वचनरूप परिणत होते हैं उन्हें द्रव्य वचन कहते हैं तथा वे पुद्गलों के ही बनते हैं इसलिये पौद्गलिक ही कहलाते हैं। मन भी दो प्रकार का है एक भावमन और दूसरा द्रव्यवचन। भावमन की प्राप्ति लब्धि और उपयोग के द्वारा होती है तथा लब्धि और उपयोग ये दोनों ही पुद्गलों के आलम्बन से ही होते हैं इस लिये भावमन भी पौद्गलिक ही गिना जाता है।

ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम का लाभ होने के कारण प्राप्त होने वाले गुणदोषों का विचार करना, स्मरण करना आदि कार्यों से सम्मुख ऐसे आत्मा का अनुग्रह करने वाले और विशेष शक्ति प्रकट करने व जिनमें सामर्थ्य है ऐसे जो पुद्गल मनरूप परिणत होते हैं उन्हें द्रव्य मन कहते हैं। द्रव्य मन पुद्गलो से ही बनता है इसलिये वह भी पौद्गलिक ही कहलाता है। स्वतंत्रता पूर्वक आत्मा के द्वारा जो स्वयं किया जाता है उसे कृत कहते हैं।

किसे हिंसा का त्याग कर देना ही कल्याणकारी है। परमाणु शक्ति से पहले
 क्लेश भोगता है और परलोक में भी नीच गति पाकर निन्दनीय होता है इस-
 वाचता रहता है। हिंसक पुरुष इस लोक में भी बध, वधन शक्ति के शनैक
 शत्रु बनकर और फटकार पाता रहता है तथा दूसरों के साथ बँद बिरोध
 पिता के समान विवास करने योग्य और पूज्य माना जाता है। हिंसक पुरुष
 भारत किसे जाने है। अहिंसाधर का भारत करने वाला अहिंसक पुरुष अपने
 का कारण है। इस अहिंसाधर का पालन करने के लिये ही बाकी के सब बल
 अपना अहिंसाधर कहेंगे। यह अहिंसाधर स्वर्ग और मोक्षफल प्राप्त होने
 करने हुए अन्य लोगों का अनुमोदन करना हिंसितरति धर्मि हिंसा का त्याग
 जोड़ों की हिंसा करना, न किसी दूसरी से उनका पाल करना और न हिंसा
 गमन करने लड़ें हों, गमन करने और बँदों शक्ति कार्य में न ली स्वयं उन
 की गति यदि मायावाय, गुणस्थान, कुल, धर्म और आयुष्य शक्ति जानकर
 कथन बाद निर्गतिमा जोड़ों की पीडा ही संकरी है इसलिये उन बादर जोड़ों
 पुरुष निर्गतिमा जोड़ों की तो किसी तरह पीडा ही नहीं जा सकती है।
 कि कचार ही वही शत्रु और ही जाने है।

कर्माणि के सोलह और भी होते हैं और कर्माणि के सोलह और होने से समस्तमा-
 रहता है। संवचन कर्माणि का संस्कार अन्तर्मुख तक रहता है। इस प्रकार
 मरिते तक रहता है। अत्याख्यानावरण कर्माणि का संस्कार पन्द्रह दिन तक
 यन्त्र भव संसार तक रहता है। अत्याख्यानावरण कर्माणि का संवस्थान छह
 वर्ष:- अन्तर्मुख कर्माणि का संवस्थान व संस्कार संख्यात, अत्याख्यात व
 मरित, आदाननिष्पणसमिति, आलोचिकपान भोजनमिति ।
 कर्माणि पञ्च भवना भवति । वाग्मिति, मनोगिति, कर्माणि, कर्माणि, कर्माणि
 भवति हिंसाया उपरमः भयानं । परमाणु यद्वाह्योऽहिंसाधर-
 व यद्वापरिजलाधीन परित्तवत, प्रत्य वाग्मिति, गहितरव
 भवति । हिंसकी हिंसाहेतुगीयः संततोऽप्यवधुं वररव इहेव
 कर्माणि भवति । अहिंसकः पुरुषो निजजनकवद्विद्यास्यः पूज्यव
 ति । अहिंसाधर स्वर्गायुक्तप्रणाल्यैरेतत्प्रतिपालनमिति
 न, पर्या न पालन, अन्तर्मुख हिंसा! मान्योवन हिंसावि-

करने की इच्छा से उस ग्रहिसाधत को स्थिर करने के लिये (१) वाग्नि, (२) मनोगुप्ति, (३) ईर्ष्यामिति (४) प्रादान निशंगण समिति और (५) प्रालोकित पान भोजन से पाँच भागनायें कही गई हैं।

सत्य महाव्रत का पाँच भावना पूर्वक लक्षण :-

पारमार्थिकस्य भूतनिह्नवेऽभूतोद्भावने च यदभिधानं तदेवा-
नृतं स्यात्, भूतनिह्नवे नात्त्यात्मा नास्ति परलोक इत्यादि । अमू-
तोद्भावने च श्यामाकतंदुलमात्र आत्मांगुष्ठपवंमात्रः सर्वगतो नि-
ष्क्रिय इत्यादि । यद्विद्यमानार्थविषयं प्राणिपीडाकरणं तत्सत्यमप्यसत्-
मेतद्विपरीतं यच्च प्राणिपीडाकरं तदनृतं कृतात्कारितादनुमोदिता-
द्वाऽनृताद्विरतः सत्यव्रतं तदभ्युदय निःश्रेयसकारणं । सत्यवादिनां
सन्मानयति लोकः सर्वेषु कार्येषु प्रमाणं भवति, अनृतवाद्यश्रद्धयो
भवति । इहैव जिव्हाच्छेदनादीन् प्रतिलभते, मिथ्याभ्याख्यान दुःखि-
तेभ्यश्च वद्धवंरेभ्यो बहूनि व्यसनान्यवाप्नोति, प्रेत्य चाऽशुभां गतिं
निन्दितश्च भवतीत्यनृतवचनाद्युपरमः श्रेयान् । सत्यव्रत दृढीकर-
णार्थं पञ्चभावना भवन्ति ।

क्रोधप्रत्याख्यानं, लोभप्रत्याख्यानं, भीरुत्वप्रत्याख्यानं, हास्य-
प्रत्याख्यानं, अनुवीचिभाषणं चेति । अनुवीचिभाषणमनुलोभभाषण-
मित्यर्थः, विचार्य भाषणं वा अनुवीचि भाषणं ।

अर्थ :- जो पदार्थ है उसको छिपाने के लिये और जो नहीं है उसको प्रकट करने के लिये जो वचन कहे जाते हैं उसीको अनृत यानी मिथ्या वचन कहते हैं । आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है इत्यादि वचन पादार्थों के अस्तित्व को छिपाने वाले हैं । आत्मा श्यामक चाँवल के बराबर है अथवा मांगूठे के पर्व के समान है यानी समस्त ससार में व्याप्त है और निष्क्रिय है इत्यादि वचन जो पदार्थ रूप नहीं है उसही को प्रकट करने वाले हैं । विद्यमान पदार्थों को विद-
मान कहने वाले वचन भी यदि प्राणियों को पीड़ा करने वाले हों तो वे सत्य-
होकर भी असत्य ही माने जाते हैं । जो वचन विपरीत हों तथा प्राणियों को पीड़ा देने वाले हों वे सब अनृत कहलाते हैं । कृत, कारित, अनुमोदना से अनृत

पानी प्रसत्य का त्याग कर देना सत्यमहाव्रत है । यह सत्यमहाव्रत ही अभ्युदय और मोक्ष का कारण है । सत्यवादी का (सच बोलने वाले का) सब लोग सम्मान करते हैं और समस्त कार्यों में वह प्रमाण माना जाता है । झूठ बोलने वाले पर किसी को भी श्रद्धा नहीं होती इस लोक में भी जीभ काटी जाना प्रादि अनेक दुःख उसे भोगने पड़ते हैं । झूठ बोलकर जिन लोगों को दुःख देया है और इसी लिये जिनके साथ बँध बँध गया है ऐसे लोगों के द्वारा वह अनेक तरह के संकटों में डाला जाता है । परलोक में भी उसे अशुभ गति मिलती है एवं वह निन्दनीय होता है इसलिये असत्य वचनों का त्याग कर देना ही कल्याणकारी है । (१) क्रोध प्रत्याख्यान अर्थात् क्रोध को त्याग कर देने की भावना रखना (२) लोभ प्रत्याख्यान अर्थात् लोभ को त्याग कर देने की भावना (३) भीरुत्व प्रत्याख्यान अर्थात् डर को त्याग देने की भावना रखना (४) अस्य-प्रत्याख्यान अर्थात् हँसी को त्याग देने की भावना रखना और (५) अनुवीची भाषण ये पाँच सत्यव्रत को दृढ़ करने की भावनाएँ हैं । विचार कर त्याग करना अथवा अनुकूलता पूर्वक भाषण करना अनुवीची भाषण कहलाता है ।

अचौथ्यं महाव्रत का पाँच भावनाओं सहित वर्णन :-

अदत्ताऽऽदनं स्तेयम् । ग्रामारामशून्यागारवीथ्यादियु निपतित-
रणिनकनकवस्त्राद्रिवस्तुनोग्रहणमदत्तादानं । कृतकारितादिभिस्तस्मा-
द्वैरितिरस्तेयव्रतं । तद्गीर्वाणनिर्वाणप्रदं । अस्तेय व्यतिनो चहिं-
स्यप्र्राणेष्वयेष्वपि विश्वसिति लोकः । परद्रव्यहरणासक्तमतिः सर्व-
स्योद्वेजनीयो भवन्ति । इहैव चाभिघातवधबंधहस्तपादकर्णनासो-
त्तरोष्ठच्छेदनभेदनशूलारोहणक्रकचपाटनकारागारविनिवेशनसर्वस्व-
हरणादीन्प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं, कुत्सितश्च भवति, सत्सं-
स्रितः शिष्टोऽपि संशयमवाप्नोति, अदत्तादानव्रतस्थिरीकरणं
भावनाः पंच भवन्ति शून्यागारगिरिगुहातरुप्रकोटरादिष्वावासः, पर-
तियेषु मोचितेष्ववासः, परेषां मनुष्यव्यन्तरादीनामुपरोधाकरणं, प्रा-
कारसूत्रमार्गणभक्ष्यशुद्धिः, भवेदंतवेदमिति लक्षणा विसंवादः, न
वेसंवादोऽविसंवादः, सधमिभिरविसंवाद इति ।

अर्थ :- अदत्तादान अर्थात् जिना की दुई वस्तु को लेना व ग्रहण करना ही चोरी है किमी गांव में निमी बगीचे में, किसी सूने मकान अथवा गली में पड़े हुए मणि सोना वस्त्र आदि पदार्थों का ग्रहण कर लेना यानी उठानेना अदत्तादान है कृत, कागिन, अनुमोदना में ऐसे अदत्तादान का त्याग करना अस्तेयव्रत अथवा अर्चोयमहा व्रत कहलाना है । यही अर्चोयव्रत स्वर्ग और मोक्ष की मण्डा देने वाला है । अर्चोयव्रत धारण करने वाले का वास्तु प्राण एवं धन रखने में भी सब लोग विद्वान् कर लेने हैं । जिसकी दूसरे के धन हरण करने में प्रायत्कि रहती है उसे सब लोग दण्ड और फटकार दिया करते हैं, इस लोक में मारना, पीटना, जान से मार डालना, बांधना हाथ, पैर, कान, नाक ऊपरवा घोट आदि अङ्गों का काटलेना, भेदना, गूली पर चढाना, आरे से चीरना, बाण-गार में (जेल में) बंद करना और उसका सब धन लूट लेना आदि अनेक दुःख उसे भोगने पडते हैं । परलोक में उसे अशुभगति प्राप्त होती है और वह निन्दनीय होता है और तो क्या ऐसे चोर के ससर्ग मात्र से शिष्ट पुरुष भी (भले सभ्य पुरुष) संशय में पड जाते हैं अर्थात् लोग उनपर भी सन्देह करने लगते हैं इसलिये चोरी का त्याग कर देना ही ससार का तथा आत्मा का कल्याण करने वाला है । इस अर्चोयं व्रत को स्थिर करने के लिये नीचे लिखी हुई पाँच भावनायें हैं (१) पर्वतों की गुफायें तथा वृक्षों के कोटर आदि सूने मकानों में निवास करने की भावना रखना । (२) दूसरों के द्वारा छोड़े हुए स्थानों में रहने की भावना रखना । (३) अन्य मनुष्य व्यन्तर आदि की रोक टोक न करने की भावना रचना । (४) आचार सूत्रों में कहीं हुई विधि के अनुसार भिक्षा की शुद्धता रखने की भावना रखना और (५) साधमियों के साथ यह तेरा है यह मेरा है आदि विमवाद न करना । ये आर्चोयमहाव्रत की पाँच भावनायें कहलाती हैं ।

ब्रह्मचर्यं महाव्रत की पाँच भावनाओं सहित लक्षण :-

मैयुनमब्रह्म स्त्रीपुंसोर्वेदोदये वेदनापीडितयोर्गतकर्म तन्मैयुन-
मयर्वकस्याःपि चारित्रमोहोदयोद्वक्तरागस्य हस्तादिसंघटनेऽस्ति मैयु-
नमिति । अहिंसादिगुणवृहणाद् ब्रह्म न ब्रह्म अब्रह्म । तिर्थात्मनु-
प्यदेवाच्चेतनभेदाच्चतुर्विधस्त्रीभ्यो (भेदेन नवविधाद्विरतिश्चतुर्भ-

स्त) मातृसुताभगिनीभावनया मनोवाक्कायप्रत्येककृतकारितानु-
 त्तितमेवेन नवविधाद्विरतिश्चतुर्यद्यत्तं । तदेव मोक्षसाधनं ब्रह्मचा-
 रणं भूमिस्यमपि साक्षाद्देव इव मन्यते लोकः । असंप्रतोपि तद्व्यतो
 नार्हो भवति, तस्मिन्प्रतिष्ठिताः सर्वे गुणाः, विद्यादेवताश्च परि-
 हीत ब्रह्मधृतस्य किंकरभावमुपयान्ति । अत्रब्रह्मचारी मदविभ्रमो-
 ष्यितचित्तोवनगज इव वासिता (वासिताणी) वचितो विवशो
 प्रबंधनपरिप्लेशादीननुभवति । मोहाभि भूतत्वाच्चकार्याकार्यानि-
 जो न किंचित्कुशलमाचरित, पराङ्गनालिङ्गछेदनवधबंधनसर्वस्व-
 णादीनपायान्प्राप्नोति । प्रेत्यचाशुभाङ्गतिमश्नुते । तृणवल्गु-
 भवतीत्यतः स्त्रीचिरतिरात्महिता । ब्रह्मचर्याव्रतनिश्चली कर-
 र्ये पञ्च भावना भवन्ति । स्त्रीरागकथाश्रवणवर्जनं, तन्मनोहरा-
 नेरीक्षणविरहः, पूर्वरतानुस्मरण व्यपोहः, वृष्येष्टरसानुभवनि-
 त्तः । स्वशरीरसंस्कारत्यागश्चेति ।

र्थः— मंथुन करने को अब्रह्म कहते हैं । अपने अपने वेद कर्म के उदयसे
 ण से (कामकी वेदना से पीड़ित हुए स्त्री पुरुष जो कुछ कर्म करते हैं उसको
 कहते हैं अथवा चारित्र्य मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से जिसके तीव्र राग
 प्रकट हुआ है ऐसा एक पुरुष भी यदि हस्तादिक से संपट्टन क्रिया करे
 वह भी मंथुन कहलाता है । जिसमें ग्रहिसा आदि गुणो की वृद्धि होती हो
 ब्रह्म कहते हैं और ब्रह्म व ब्रह्मचर्य का पालन न करना ही अब्रह्म है ।
 श्चनी, मनुष्यनी, देविनी और पत्थर काष्ठचित्रामादि अचेतन के भेद से
 ण चार तरह की होती है इन चारों प्रकार की स्त्रियों में माता, वहिन
 पुत्री की भावना रख कर मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना
 रा होने वाले नौ प्रकार के भेदों से उस अब्रह्म का त्याग कर देना ब्रह्म-
 ताम का चौथा महा व्रत है । यह ब्रह्मचर्य व्रत भी स्वर्ग मोक्ष का साधन
 यदि कोई ब्रह्मचारी मनुष्यादि जमीन पर भी बैठा हो तो भी संसार उसे
 त् देव के समान ही मानता है । यदि ब्रह्मचारी असंयमी भी हो तो भी
 न आदर सत्कार और मान प्रतिष्ठा होती है । इस ब्रह्मचर्य व्रत में ही
 समस्त गुण सामिल है । जिसने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है उसही की सब

विद्याधर व देवता आकर स्वयं सेवक होकर काम करते हैं। जिस प्रकार नर के विकार से उन्मत्त चित्तवाला जङ्गली हाथी हृथिनी के द्वारा ठगा जाकर परवश हो जाता है और बध बन्धन आदि के अनेक अनुभवों का क्लेशो से अनुभव करता है उस ही प्रकार अग्रहणमचारी भी मद के विकार से उन्मत्त चित्त होकर परवश हो जाना है और फिर बध, बन्धन आदि के अनेक क्लेश सहन करता है। मोह से निरस्कृत होकर कार्य अकार्य का कुछ विचार नहीं कर सकता और न वह किसी भी श्रेष्ठ कार्य का सम्पादन कर सकता है। परस्त्रियों का आलिङ्गन अथवा उनके साथ समागम करने की लालसा रखने वाले पुरुष के साथ हर किसी का वैर विरोध हो जाता है और फिर उनसे विरोध करने वालों के द्वारा लिङ्गच्छेदन, बध-बन्धन और समस्त धन का हण जाना आदि अनेक दुःख उसे भोगने पड़ते हैं। परलोक में अशुभ गति प्राप्त होती है और वह वृष के समान लघु व क्षुद्र गिना जाता है। इसलिये स्त्रियों का त्याग कर देना ही आत्मा का कल्याण करने वाला है। (१) इस ब्रह्मचर्य व्रत को निश्चल करने के लिये स्त्रीराग कथा श्रवण त्याग (स्त्रियों की रानस कथा सुनने का त्याग) करना (२) तन्मनोहराङ्ग निरीक्षणविरह अर्थात् स्त्रियों के मनोहर अंगों के देखने का त्याग करना। (३) पूर्वव्रतानुस्मरणव्यसने पर्याप्त पहिले उपभोग की हुई स्त्रियों के स्मरण करने का त्याग करना। (४) व्युत्प्रेरसानुभवनिरास अर्थात् पीठिक और इष्ट रस के अनुभव करने का त्याग करना और (५) स्वशरीरसंस्कार वर्जन अर्थात् अपने शरीर के मस्कार करने का त्याग करना ये पाँच भावनार्ये है।

परिग्रह त्याग महाव्रत य पाँच भावनाओं का वर्जन -
मूर्च्छा परिग्रहः;

क्षेत्रवास्तुधनधान्यद्विपदचतुष्पदयानशयनाशनकुप्यभाण्डानि, दशदि-
धरचंचेतनाचेतनभेदलक्षणो वाह्यपरिग्रहः मिथ्यात्व क्रोधमानमाय-
लोमहास्यरत्नरतिशोकभयजुगुप्सावेदरागद्वेषचतुर्दशभेदोन्वन्तरपरि-
ग्रहः। एतस्मान्मनसः कृतकारितानुमोदितेन यच्चसः कृतकारिता-
नुमोदितेन कायस्य कृतकारितानुमोदितेन च विरतिपरिग्रहलक्षणं
इति। तदेव स्वर्गान्मोक्षंरुसाधनं सर्वेषां गुणानामलं करणं; निष्पति-
प्रवृत्तिनां सर्वेषु सन्मानयन्ति, स सर्वैश्च समभिबन्दीयः सत्तु

जिस प्रकार से किसी पक्षी के पास मांस का टुकड़ा हो तो उस मांस को चाहे
 वाले अन्य पक्षी उमें घास देने हैं उसही प्रकार चोर आदि धनार्थी लोग न
 अधिक परिग्रह रखने वाले को घास देते हैं और मार डालते हैं। परिग्रह कं
 इकट्ठा करने के लिये अपने कुटुम्बी व विद्या और चारित्र्य को छोड़कर वित्त
 ही मूर्ख लोग नीचता धारण कर लेने है। जिस प्रकार ईश्वर से अग्नि की वृत्ति
 नहीं होती उसही प्रकार परिग्रह में किसी को भी वृत्ति नहीं होती है। सो
 के वशीभूत होकर वह कार्य अकार्य आदि किसी का विचार नहीं कर सकत
 परलोक में उसे अशुभ गति प्राप्त होती है और यह लोभी है इस प्रकार
 निन्दनीय गिना जाता है। इसलिये जो नीच वृत्ति से जो द्रव्य उपाजन कि
 जाय वह अनित्य एव दुःख का कारण है ऐसे परिग्रह को छोड़कर आ
 का हित करने वाले लोगों को निष्परिग्रहवृत्ति धारण कर नित्य और म
 मुग का साधन ऐसा मोक्ष का मार्ग सदा उपाजन करना चाहिये। इस आ
 चन्य व्रत को स्थिर करने के लिये स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण
 पांचो इन्द्रियों के इष्ट विषय प्राप्त होने पर उसमें राग नहीं करना और प्री
 पदार्थों के प्राप्त होने पर द्वेष नहीं करना ये पांच भावनायें हैं।

पांच महाव्रतों का उपसंहार :-

एवमहिंसादिव्रतानां लक्षणं फलं गुणं तदभावे दोषभावनां च
 ज्ञात्वा यथा ममाप्रियं बध्वन्धपरिपीडनं तथा सर्वं सत्वानां, यथा
 मम मिथ्यात्वा व्याख्यानकटुकपरुषादीनि वचांसि शृण्वतोतितीघ्र-
 दुःखमभूतपूर्वमुत्पद्यते तथा सर्वजीवानां । यथा ममेष्टे द्रव्यवियोगे
 ध्यसनरूपपूर्वमुपजायते तथा सर्वभूतानां । यथा मम कान्ताननप-
 रिभवे परकृते सति मानसो पीडाऽतितीघ्रा जायते तथा सर्वं प्राणिनां
 यथा च मम परिग्रहेष्व प्राप्तेषु कांक्षोभद्वय प्राप्तेषु रक्षाजनितविन-
 प्तेषु शोकात्मकं दुःखमतितीघ्रतरं भवति तथा च सर्वदेहिनां व्रतो
 न हिंनस्मि, नानृतं वदामि, नदत्तमाददे, नांगानां स्पृशामि, न
 इत्येवं प्रमत्तपरिणामयोगजनितं हिंसादिकं विहा-

इति दिव्यधारणे यत्नः कर्त्तव्यः ।

इस प्रकार हिंसा आदि व्रतों का लक्षण फल और गुणों को सर्व-
 तथा व्रतों के अभाव में दोषों को प्राप्ति समझकर विचार करना चाहिये

कि जिस प्रकार वध, बंधन और पीडन मुझे अप्रिय है उसही प्रकार सब जीवों को अप्रिय है जिस प्रकार मिथ्या वचन कटुक और कठोर वचन सुनने से मुझे अभूतपूर्व और अत्यन्त तीव्र दुःख होता है उस ही प्रकार सब जीवों को होता है। जिस प्रकार मेरे इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर मुझे दुःख होता है उसही प्रकार सब जीवों को होता है। जिस प्रकार किसी दूसरे के द्वारा मेरी स्त्री का तिरस्कार होने पर मेरे हृदय में अत्यन्त तीव्र पीड़ा होती है उसही प्रकार सब जीवों को होती है। जिस प्रकार मुझे परिग्रहों की प्राप्ति न होने पर उनकी इच्छा जन्म अत्यन्त तीव्र दुःख होता है उनकी प्राप्ति होने पर रक्षा करने का अत्यन्त दुःख होता है और उनके नष्ट होने पर शोक उत्पन्न होने का सबसे अधिक तीव्र दुःख होता है उसही प्रकार सब जीवों के होता है। इसलिये मैं न तो किसी जीव की हिंसा करूँगा, न भूँठ वोलूँगा, न चोरी करूँगा, न स्त्री का स्पर्श करूँगा। इस प्रकार प्रमत्त परिणामों के संयोग से उत्पन्न हुए हिंसा आदि रण करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

**समितिपालनं पूर्वमुक्तं । चतुर्विधकषायनिग्रहश्चोत्तमक्षमामार्द-
जर्वसत्त्यशौचेषु प्रतिपादितः ।**

अर्थ :- समितियों के पालन करने का विधान पहले कहा जा चुका है घोर आरो प्रकार के कषायों का निग्रह करना उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव और तीक्ष्ण में प्रतिपादन कर चुके हैं।

तीन प्रकार के दण्डों का भेद :-

**दण्डस्त्रिविधः, मनोवाक्कायभेदेन । तत्र रागद्वेषमोहविकल्पा-
त्मा मानसो दण्डस्त्रिविधः, तत्र रागःप्रेमहास्यरतिमायालोभाः ।
द्वेषः क्रोधमानारतिशोकभय जुगुप्साः । मोहो मिथ्यात्व त्रिवेदसहिताः
प्रेमहास्यादयः । अनृतोपघातपशून्यपहपाभिर्शंसन परिताप हिंसनभे-
दाद्वाग्दण्डः सप्तविधः । प्राणिवधचौर्यमैथुनपरिग्रहाःरंभताड़नोप्रवे-
षविकल्पात्कायदण्डोऽपि च सप्तविधः ।**

अर्थ :- मन, वचन, काय के भेद से दण्ड तीन प्रकार का है घोर उसमें भी मन दण्ड के तीन भेद:- राग, द्वेष मोह के भेद से मानसिक दण्ड भी तीन प्रकार का है। प्रेम, हास्य, रति, माया और लोभ को राग कहते हैं। क्रोध, मा

धरति, शोक, भय, जुगुप्सा तो द्वेष कहते हैं तथा मिथ्यात्व म्नांवेद, पूर्वद, ननुसववेद प्रेम और शम्भ्यादिक मय मोह कहना है। वचन दण्ड के सात भेद- भूँठ बोलना, वचन में कटकर हिंसा के जान का मान करना, जुगुप्सी माना कठोर वचन कहना अपना प्रणमा करना, न-साप उत्पन्न करने वाले वचन कहना और हिंसा के वचन कहना यह मान नरह का वचन दण्ड कहना है। काय दण्ड के सात भेद:- प्राणिया का मथ करना, चोरी करना, मंथुन करना परिग्रह रगना, आरभ करना, ताडन करना और उपश्रय (भयानक) धारण करना, इस तरह काय दण्ड भी सात प्रकार का कहना है। अपनी आत्मा को गुप्त रखने के लिये पापों में छिपाने व वचाने के लिये मदा प्रयत्न करने वाले मुनियों को इन तीनों प्रकार के दण्डों का त्याग कर देना चाहिये।

विशेष:- मन दण्ड के तीन भेद-राग, द्वेष और मोह। वचन दण्ड के सात भेद-श्लोक, मान, धरति शोक, भय, जुगुप्सा और द्वेष। काय दण्ड के सात भेद- प्राणियोंका मथ करना, चोरी करना, मंथुन करना, परिग्रह रगना, आरभ करना, ताडन करना और भयानक (उग्र) वेप धारण करना है।

विषयाटवीपु स्वच्छन्दप्रधावमानेन्द्रियगजानां ज्ञानवैराग्योपवासाद्यंकुशाकर्षणेन वशीकरणमिन्द्रियजयः स चास्त्रवानुप्रेक्षायां वक्ष्यते।

अर्थ:- विषय रपी वनमं स्वतन्त्र रीति से दौडने वाले इन्द्रियरूपी हाथियों को ज्ञान वैराग्य, उपवास आदि अ क्रुतियों में म्नांकर वश करना इन्द्रिय विजय कहलाता है। इस इन्द्रिय विजय का विस्तार आश्रवानुप्रेक्षा में कहेंगे।

संयमोऽह्यात्महितस्तमनुतिष्ठन्निहं व पूज्यते। परत्र किमत्र वाच्यं। असंयतः प्राणिवधविषयमार्गेषु नित्यं प्रवृत्तो मूर्तिमदशुभकर्मवायमिति साधुजनविनिन्द्यमानो दुष्कर्म संचिनुते।

अर्थ - यह निश्चय है कि मयम धारण करना आत्मा का हिन करने वाला है इसलिये जो इन मयम को धारण करता है वह इस लोक में भी पूज्य गिना जाता है फिर भला परलोक को तो बात ही क्या है? वहाँ तो पूज्य होता ही है।

अनयमो पुण्य प्राणियों की हिंसा करना, विषय सेवन करना आदि कुतर्कों में हो मदा प्रवृत्त रहा करता है वह मूर्तिमान् साक्षात् अशुभ कर्म रूप ही जान परता है और दमोनिषे मज्जनों के द्वारा निन्द्य गिना जाता है और अनेक दुष्कर्मों को (पापकर्मों को) मचिन करता रहता है।

स्थानेऽसंख्येयानि संयमस्थानानि कपायानामत्तानि भवन्ति । तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककपायकुशीलयोस्तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छतः, ततः पुलाको व्युच्छिद्यते । कपायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानि गच्छत्येकाकी ततः कपायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशा युगपदसंख्येयानिस्थानानि गच्छन्ति, ततो वकुशो व्युच्छिद्यते ततोप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलोव्युच्छिद्यते, ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानिगत्वा कपायकुशीलो व्युच्छिद्यते, अत उर्ध्वमकपायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते, सोऽसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते । अत उर्ध्वमकस्थानं गत्वा स्नातको निर्वाणं प्राप्नोतीत्वेपां संयम लब्धिरनंतगुणा भवंतीति ।

अर्थ :-उत्तरोत्तर गुणो की अधिकता और चारित्र्य की विशेषता धारण करनेवाले पुलाकादि निर्ग्रन्थो का संयम आदि आठ अनुयोगो द्वारा व्याख्यान करना चाहिये । यही बात आगे दिग्गता है । १. संयम २. श्रुत, ३. प्रतिसेवना ४. तीर्थ ५. तिल ६. लेश्या ७. उपपाद और ८. स्थान इन आठो भेदों के द्वारा पुलाकादिको को सिद्ध करना चाहिये ।

(१) संयम - वह इस तरह संयम के द्वारा पुलाक, वकुश, और प्रतिसेवना कुशील ये सदा सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो समयों में रहते हैं । कपाय कुशील, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय इन चार संयमों में रहते हैं । निर्ग्रन्थ और स्नातक एक ही यथाव्याप्त संयम में रहते हैं ।

(२) श्रुतज्ञान - श्रुत के द्वारा पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील के उत्कृष्ट श्रुतज्ञान अभिन्नाधर दस पूर्वतरु होता है । कपाय कुशल और निर्ग्रन्थो के चोदह पूर्व तरु होता है । जघन्य श्रुतज्ञान पुलाक के साधारणस्तु तक होता है । (साधारण दस्तु साधारण का एक भाग है) वकुश, कुशील और निर्ग्रन्थों के जघन्य श्रुतज्ञान अष्टप्रवचनमातृका तक होता है । (साधारण में एक अधिकार पांच मन्त्रि और तीन गुण के व्याख्यान करने का है उग अधिकार उरु को अष्टप्रवचनमातृका रहते हैं) स्नातकों के कोई श्रुतज्ञान नहीं होता क्योंकि वे केवली होवे हैं ।

रहित होने से प्रकृत उनसे कोई भेदना नहीं होगी ।

(७) उपपाद - उपपाद से द्वारा - पुलाक मुनि का उपपाद प्रथम सागर की उत्कृष्ट प्रायु वाले देवों में महामार स्वर्ग तरु का होता है ।

भावाथ - पुलाक मुनि शरीर छोड़कर प्रथम में प्रथम महामार स्वर्गक उत्पन्न हो सकते हैं । वक्रुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि बाईस सागर की प्रायु पाकर आरण और प्रच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं । कपाय कुशील और निग्रन्थ जाति के मुनि तैतीस सागर की प्रायु पाकर सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हो सकते हैं । इन सब का जघन्य उपपाद दो सागर की प्रायु लिये हुए सौधम स्वर्ग है अर्थात् ये मुनि कम से कम दो सागर की प्रायु पाकर सौधम स्वर्ग में तो उत्पन्न होते ही है । स्नातक मुक्त हो होता है ।

(८) स्थान :- स्थान के द्वारा कपायो के निमित्त से संघम के असंख्यात स्थान होते हैं उनमें से सबसे से जघन्य लब्धिस्थान पुलाक और कपाय कुशील के होते हैं वे दोनों ही असंख्यात स्थानक तो साथ साथ रहते हैं परन्तु पुलाक फिर अगला हो जाता है उसके बाद कपाय कुशील असंख्यात स्थान तक अकेला हो जाता है । उसके बाद कपाय कुशील, प्रतिसेवना कुशील और वक्रुश असंख्यात स्थान तक साथ साथ जाते हैं फिर वक्रुश वही रह जाता है उसके बाद असंख्यात स्थान तक जाकर प्रतिसेवना कुशील टहर जाता है उससे प्रागे भी असंख्यात स्थान जाकर कपाय कुशील रह जाता है । इसके बाद अकपाय स्थान है उन्हें निग्रन्थ प्राप्त करता है । वह भी असंख्यात स्थान जाकर अलग हो जाता है उसके बाद एक स्थान ऊपर जाकर स्नातक मुक्त होता है ।

इन सब के उत्तरोत्तर संघम की प्राप्ति अनन्तगुनी होती है ।

इस प्रकार संघम का वर्णन किया गया ।

अथ परीपह जय प्रकरणं प्रस्तौति ।

अर्थ :- अथ प्रागे परीपहजय प्रकरण को कहते हैं:-

संयतेन तपस्विना दर्शन चारित्ररक्षणार्थं परिवोढव्याः परीषहाः ।

अर्थ :- संयमी तपस्वी को सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य की रक्षा करने के लिये परिषहो को सहन करना चाहिये ।

उक्तं हि ।

अर्थ :- कहा भी है ।

नौति क्षयाद्यौ द्विविधाः ।
 १. क्षयः, २. क्षयः, ३. क्षयः, ४. क्षयः, ५. क्षयः, ६. क्षयः, ७. क्षयः, ८. क्षयः, ९. क्षयः, १०. क्षयः

कौशल्यायनः । नौति क्षयाद्यौ द्विविधाः ।

अर्थः - इस प्रकार शक्ति से निष्ठा है । इसलिये इस ग्रन्थ में परीक्षा, संयम और तप दोनों के मध्य में कहे गये हैं । जो साधु कर्मों के मार्ग को बंद कर देता है तथा "मं श्री जिनन्देव के कहे हुए मार्ग से कभी व्युत् न होके" इसलिये जो पहले से ही परीक्षा को जीतावे रखे है । इस तरह परीक्षा को जीताकर जो कभी परीक्षा से निरन्तर नहीं होते और मुख्य संघर्ष का साध्य निकर बिना किसी रुकावट के साधक श्रुती चरित की सामर्थ्य प्राप्त करते हैं । जिस प्रकार परीक्षा अपने पलायन वर्गी हई धर्म को सांकेतिक रूप में जीतावे है उसही प्रकार जिनका उत्साह सदा पूर्ण रहता है और जो समस्त साधन साधक को प्राप्त करने की शक्ति रखते हैं ऐसे मुनिराज अपने ज्ञान और ध्यान से जड़ काट कर कर्मों को निरा देते हैं साधक नष्ट कर जाते हैं परीक्षा के लिये मुक्त होने के लिये (परीक्षा) को सहन करना आवश्यक है ।

परीक्षाः परीक्षाः ।

विषय प्रकीर्तितपश्चरेण च पतितेषु उच्चं दत्तौत्सवस्य परी-
 सापरिष्कारप्रवृत्तनशावधनयोजनान्ध्यान पर्याप्तिकर्मजन कर्मणि
 वृत्तन क्षयकश्रुतीहेतुसामर्थ्य प्रतिपद्यते । आत्मबोत्सहः सकल-
 ज्ञानोक्तिपरिष्कारः संस्तरनिर्भयमानाः प्रधानस्वरमाश्रित्याश्रित-
 रणि संवृत्तां ज्ञानः दानमार्गान्दयोत्सहीति पूर्वमेव परिष्कारि-
 इत्युक्तवत्सिद्धिमत्तपसोमंष्टी परीक्षा उत्पन्न । कर्मनिर्गम-
 दोनों को ही विशेषण है तथा उन्हीं दोनों का एक देश है ।

अर्थः - यद्यपि और शक्ति करने के लिये तप रखते वाले मुनिगण को सदा परीक्षा को सहन करना चाहिये, क्योंकि ये परीक्षा से परीक्षा संयम और तप की सहायता प्राप्त करके शक्ति प्राप्त कर सकते हैं ।
 परीक्षायां निर्यादशान्तिरक्षणे निर्यातः ।
 संयमपरिविशेषात्सदेकदेशाः परीक्षायाः स्याः ॥

७. अरति, ८. स्त्री ९. चर्मा, १०. निवधा, ११. शंभ्या, १२. माक्रोश, १३. वय
१४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कार-
पुरस्कार, २०. प्रजा, २१. अमान, प्रो २२. अवशान ये बाईत परीपह कहलाते हैं।

ते एते वाट्याभ्यन्तरद्रव्यपरिणामाः शरीरमानसप्रकृष्टपीडा-
हेतवस्तद्विजये विदुषा संयतनं तपस्विना मोक्षाथिना प्रयत्नः कार्यः।

अर्थ :- ये परीपह वात्य प्रो अभ्यन्तर द्रव्यों के परिणामों में प्रकट होते हैं। शरीर प्रो मन को गवसे कठिन पीडा देते हैं, इसलिये इनको विजय करने के लिये विद्वान् प्रो मोक्ष की इच्छा करने वाले सयमी तपस्वी को अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। वह प्रयत्न किस प्रकार करना चाहिये यही प्रागे बतलाते हैं :-

(१) क्षुधा परीपहजय :-

तद्यथा-निवृत्त संस्कारविशेषस्य शरीरमात्रोपकरणसन्तुष्टस्य तप संयमविलोपं परिहरतः कृत कारितानुमतसंकल्पितोद्दिष्टसंकलिष्टक्रियागतप्रत्यादत्तपूर्वकर्मपश्चात्कर्मदशविधदोष विप्रमुक्तवर्षणस्यदेशकालजनपदव्यवस्थापेक्षस्यानशनाध्वरोगतपः रवाध्यायश्रमवेलातिक्रमावमोदर्यासद्वेद्योदयादिभ्यो नानाऽऽहारैन्धनोपरमे जठरात्रदाहिनीमारुतांदोलिताऽग्निशिखेव समंताच्छरीरेन्द्रियहृदयसक्षोभकरी क्षुदुत्पद्यते। तस्याः प्रतीकारं त्रिप्रकारमकालेसंयमविरोधिभिवाद्रव्योः स्वयमकूर्वतोऽन्येन क्रियमाणमसेवमानस्य मनसा वाज्जभिसं दधतो दुस्तरैषां वेदना महाश्चकालो दीर्घमह इति। विषादमनापद्यमानस्य त्वगस्थिसिरावितानमात्र कलेवरस्यापि सतः आवश्यकक्रियादिषु नित्योद्यतस्य क्षुद्वसप्राप्तानर्थान् चारकबंधस्थमनुष्यपंजरगततिर्यक्प्राणिनः क्षुदभ्यर्दितान्परतंत्रानपेक्षमाणस्य ज्ञानिनो धृत्यंभसाशमकुंभधारितेन क्षुदग्निं शमयतस्तत्कृतपीडां प्रत्यविगणनं क्षुज्जय इत्युच्यते।

अर्थ :- जिन्होंने शरीर के विशेष सब संस्कार छोड़दिये हैं जो मुनि केवल शरीर मात्र को ही धर्म का उपकरण मानकर उसी से सतुष्ट रहते हैं। जो तप प्रो सयम के विघ्नो को मव तरह से दूर करते रहते हैं। १. कृत, २. कारित, ३. अनुमत, ४. संकल्पित, ५. उद्दिष्ट, ६. संकल्पित प्रियागत, ८. प्रत्यादत्त

जितशीतेषु निवासः सुरतसुखाफरमनुभूतमसारत्वावबोधदस्मरतो
विषादविरहितस्य संयमपरिपालनं शीतक्षमेति भाष्यते ।

अर्थः— जिन्होंने वस्त्रमात्र का त्याग कर दिया है । पक्षियों के समान जिन
मुनियों का कोई स्थान निश्चित नहीं है, जाड़े (शीतकाल) गर्मी और वर्षा-
ऋतु में वृक्ष के नीचे चोहटे तथा गुफा आदिकों में रहने से ठण्ड के दिनों में
बो बहुतसा वर्षा व ओस पड़ती है एवं बहुत से ओले बरसते हैं उनकी ठंडी
वायु से जिनका शरीर अत्यन्त ठण्डा हो रहा है उस ठंडक को दूर करने की
सामर्थ्य रखने वाले अग्नि आदि अन्य द्रव्यों की भरपूर अनिच्छा होने से नार-
कियों की शीत वेदना के घोर दुःखों का स्मरण करने से तथा उस ठण्डक को
दूर करने का उपाय करने में परमार्थ के विगड़ने का भय होने से, विद्या, मंत्र
शौपथ, पत्ते, छाल, चमड़ा, तृण आदि पदार्थों के संवध से जिनका चित्त विल्कुल
हट गया है जो शरीर को विल्कुल दूसरा (आत्मा से भिन्न) मानते हैं, जिन्होंने
एक प्रकार का अटल धैर्य स्वी वस्त्र ही ओढ रक्खा है, मुनि होने के पहिले जो
ऐसे भीतरी घरों में रहते थे जिनमें चारों ओर धूप जल रही थी, पुष्पों के डेर
लग रहे थे, दीपक का प्रकाश हो रहा था और नवयौवन उत्तम स्त्रियों के उष्ण
स्तन नितंब और भुजाओं के मध्यभाग में रहने से शीत दूर ही से भाग रहा
था ऐसे घरों में सुरत मुख का आनंद लेते हुए निवास करते थे परन्तु अब उस
अनुभूत सुख में भी कुछ सार न होने से कभी उसका स्मरण तक नहीं करते हैं,
इस प्रकार की शीत वेदना को सहन करते हुए भी कभी विपाद नहीं करते हैं
और इस तरह संयम का परिपालन पूर्ण रीति से करते हैं उसको शीत विजय
यानी शीत परीपह का सहन करना कहते हैं ।

(४) उष्ण परीपह जय :-

शीघ्र्येण पटीयसा भास्करकिरणसमूहनसमूहेन संतापित शरी-
रस्य तृष्णानशनपितरोगधर्मभ्रमप्रादुर्भूतोष्णस्य खेदशोषदाहाऽन्य-
द्वितस्य जलभवनजलावगाहनानुलंपनपरिदेकाद्रावनितलोत्पलदलक-
दलीपत्रोत्क्षेपमारुतजलतूलिकाचन्दनद्रवचन्द्रपादकमलरुत्हारमुन्ता-
हारादिपूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रार्थना.पेतचंतस उष्ण वेदनाति तीघ्रा-
बहुकृत्वः परवशादवाप्ता इदं पुनस्तपोममकर्मक्षयकारणमिति तद्वि-

रोधिनीं क्रियां प्रत्यनादराच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनमिति समा-
म्नायते ।

अर्थ :- अत्यन्त उष्ण और बहुत तेज सूर्य की तेज किरणों ने जिन मुनि का शरीर सब मनुष्य हो गया है, प्यास, उपवास, पित्त रोग, धूप, परिश्रम आदि कारणों से जिनके शरीर में उष्णता प्रकट हो रही है जो खेर बोक ब्रं दाहसे मर्दित हो रहे हैं, मुनि होने के पहिले जो जलभवन में रहते थे, शरीर पर ठंडा लेप लगाते थे, शरीर को गुलाब जल आदि से छिड़कते थे, जमी पर छिड़काव करके बँटते थे, कमलों के दल, कौलों के पत्तों विछाते थे, ऊपर वायु भेलेते थे, जल की वावड़ी में फिटा करते थे, चन्दन का लेप करते थे चन्द्रमा की चाँदनी में बँटते थे, कमल, कुमोदनी और मोतियों के हार पहिनाते थे इत्यादि बहुत से शीतल पदार्थों को काम में लेते थे परन्तु अब भोगे हुए पदार्थों से भी जिन्होंने अपना चित्त विलकुल हटा लिया है। जो सदा यही विचार करते रहते हैं कि मैंने परबश होकर अनेक बार अत्यन्त तीव्र उष्ण वेदना सहन की परन्तु अब स्वयं इस वेदना को सहन करना तो मेरा तपस्वरण है जो कि कर्मों के नाश करने का कारण है। इसलिये जो उष्णता को दूर करने वाली क्रियाओं के प्रति कभी आदर भाव नहीं करते और इस तरह अपने चात्रिण की रक्षा पूर्ण रीति से करते हैं इसको उष्णविजय यानी उष्ण परोपह को जीतना अर्थात् सहन करना कहते हैं ।

(५) दंशमशक परोपह जय -

प्रत्याख्यात शरीराच्छादनस्य क्वचिदप्रतिवृद्धचेतसः परकृता-
यतनगुहागह्वरादिषु रात्रौशिव्या वा दंशमशकमक्षिका पिशुकपुति-
कामकृणकीटपिपीलिकावृश्चिकादिभिस्तीक्ष्णपातैर्भक्षमाणस्यातिती-
व्येदनोत्पादकरव्यथितमनसः स्वकर्मविपाकमनुचितयतोविद्यामंत्रो-
पधादिभिस्तन्निवृत्तिं प्रति निरस्तुक्स्याऽऽशरीरगतनादपि निश्चि-
तात्मनः परवलमर्द्दं प्रति घर्तमानस्य मद्गंधगंधसिंधुरस्य रिपुजन-
प्रेरितविविधशस्त्रप्रतिघातादयपराङ्मुखस्य निष्प्रत्यहविजयपोषलंभ-
नमिव कर्म्मारातिगृतनापराभवं प्रति प्रयत्नं दंशमशकादिवाधा
सहनमप्रतीकारमित्याख्यायते । दंशमशकमात्रग्रहणमुपलक्षणार्थं तेन

पीनफलकचीवराद्यावरणमातिष्ठन्ते । अङ्गसंवरणार्थमेव तत्र कर्म-
संवरण कारण ।

अर्थ :- जो मुनि गुप्ति, नमितियों का कभी विरोध नहीं करता, परिश्रम का विल्कुल त्याग कर देता है और ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करता है । विना प्रार्थना किये ही जो मोक्ष का साधन है । चारित्र्य का अनुष्ठान करने वाला है जिसका स्वरूप पैदा हुए बालक के समान स्वाभाविक है । विना सस्कार किया हुआ और विकार रहित है । मिथ्यादर्शन से जकड़े हुए लोगों का विरोधी है और परममगल रूप है, ऐसे नाग्य को (नग्न अवस्था को) जो धारण करते हैं जो स्त्रियों के स्वरूप को सदा अपवित्र, बीभत्स और घृणित भाव से देखते हैं । वैराग्य भावनाओं के द्वारा जिनके मन के विकार सब एक गये हैं जो अपनी मनुष्य पर्याय का कभी विचार नहीं करते केवल आत्मा में ही लीन रहते हैं, उनके नग्न रहने से उत्पन्न होने वाले दोषों का स्पर्श न होने से नग्नपरीपह के विजय होने की सिद्धि होती है अर्थात् नग्न परीपह का विजय करना व सहन करना कहलाता है । इस ही लिये नग्न अवस्था धारण करना उत्तम में उत्तम कल्याण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का कारण कहा जाता है । जो लोग नग्न अवस्था धारण नहीं कर सकते वे मन के विकारों को रोक नहीं सकते । इसलिये उन विकारों के कारण उत्पन्न हुए शरीर के विकारों को छिपाने की इच्छा से शरीर को ढकने के लिये कोपीन, लंगोटी, कपडा आदि शरीर ढकने के साधनों को ग्रहण करते हैं परन्तु उनकी इस प्रिया से आते हुए कर्म कभी नहीं एक सकते ।

(७) अरति परीपह जय :-

संपतस्य क्षुधाद्याऽऽवाधाऽसंयमपरिरक्षणैर्द्विजदुर्जयत्वव्रतपरिपाल-
नभारगौरवसर्ववदाऽप्रमत्तत्वदेशभाषांतरानभिज्ञत्वविषमचपलसत्व-
प्रचुरभीमदुर्गनियतकविहारत्वादिभिररति प्रादुष्यन्ती (?) धृतिविशे-
षान्निवारयतः संयमे रतिभावनाद्विषयसुखरतिमतिविषमाहारसेवेव-
विपाक कटुकैति चिन्तयतोऽरतिपरीपहवाधाऽभावावरतिपरीपहजय
इति निश्चीयते ।

अर्थ - जो मुनि भूख, प्यास आदि की बाधाये उत्पन्न होना संयम की रक्षा करना, ईन्द्रियों का दुर्जयपना व्रतों का पालन करने के भार से गौरव धारण

करना, सदा अप्रसन्न व प्रमाद रहित रहना, अनेक देशों की भाषाओं को न जानना, विषम तथा चंचल प्राणियों का व अत्यन्त भयानक पदार्थों का ससर्ग होना और दुर्गम एक क्षेत्र में नियम रूप से विहार करना आदि कारणों के द्वारा जो अरति उत्पन्न होती है उसे विशेष धैर्य से निवारण करते हैं और जो समय में प्रेमरूप भावना होने के कारण विषय सुख से उत्पन्न हुई रति को अत्यन्त विषय आहार ग्रहण करने के समान फल देने के समय अत्यन्त कड़वी प्रयत्न दुःखदायक समझते हैं उनके अरति परिपह की बाधा कभी नहीं हो सकती, इसही लिये उनके अरति परीषह का जोतना अथवा सहन करना कहलाता है ।

(८) स्त्री परीषह जय :-

एकान्ते भवनारामादिप्रदेशे रागद्वेषयोवनदर्परुपमदविभ्रमोन्मा-
दमद्यपानाःश्लेशादिभिः प्रमदासुवाधमानासु तदक्षिवक्रभ्रविकारश्रु-
ङ्गारादारविहारहावविलासहासलीलाविजृम्भितकटाक्षविक्षेपसुकुमा-
रस्निग्धमृदुपीनोन्नतस्तनकलशनितांतताम्नाधरपृथुजघनरूपगुणाभरण
गन्धवस्त्रमाल्यादीन्प्रतिनिगृहीतमनोविप्लुतेदर्शनस्पर्शनाभिलापनिरु-
त्सुकस्य स्निग्धमृदुविशदसुकुमाराभिधानतंत्रीवंशमिश्र मधुरगीत-
श्रवणनिवृत्तादरश्रोतस्य कूर्मवत्संवृत्तौद्रियहृदयविकारस्यललितस्मित-
मृदुकथितसविकारवीक्षण प्रहसनमदमंथरगमनमन्मथशरव्यापारविफ-
लीकरणचरणस्य संसारार्णवव्यसनपातालरोद्रदुःखागाधावर्त्तिकुटिला-
ध्यायिनः स्त्रंगानुर्यनिवृत्तिः स्त्रीपरीषहजय इति कथ्यते । अन्यवा-
दिपरिकल्पिता देवताविशेषा ब्रह्मोदयस्तिलोत्तमादिदेवगणिकारूपसं-
पद्दर्शनलोललोचनविकाराः स्त्रीपरीषहपंकान्तोद्धर्तुमात्मनं समर्थाः ।

अर्थ :- जो मुनि किसी वसतिका अथवा वगीचा आदि एकांत स्थान में राग से द्वेषसे, योवन के दर्प (घमण्ड) से, रूप के नदसे अथवा विभ्रम उन्माद और मद्यपान आदि के आवेश से अनेक स्त्रियों आकर सतावे तो उन्नमय भी उन स्त्रियों के, नेत्र टेढ़ी भोंहों के विकार शृंगार, आकार, विहार, हाव, भाव, विलास, हास, लीला पूर्वक फेंके हुए कटाक्ष, मुकुमार कोमल चिकने और बड़े बड़े जघन, रूप, गुण, आभरण, गंध, वस्त्र, माला आदि से भी जिनके मन में कभी विकार प्रकट नहीं होता, जो उनके देखने की भी कभी इच्छा नहीं करने ।

स्निग्ध, कोमल, विशद और मुकुमार नाम की वीणाओं की आवाज में मिले हुए मधुर गीतों के सुनने से भी जो अपने कानों को बिल्कुल दूर हटा लेते हैं, जो कछुए के शरीर के समान इन्द्रिय और हृदय के विकारों को संकुचित कर लेते हैं। स्त्रियों के मनोहर हास्य, मधुर भाषण, सविकार वीक्षण हसी ठट्ठा, मदोन्मत्त होकर धीरे धीरे गमन करना ऐसी स्त्रियों को देख करके भी धीरवीर मुनि जोकि कामदेव के वाणों के व्यापार आदि सबको निष्फल करनेवाला जिनका चारित्र्य है। जो सदा यही विचार किया करते हैं कि यह संसार महासागर है सकट रूप पाताल और सब नारकीय रीढ़ दुःखरूप अग्राथ भ्रमणों के द्वारा कुटिल है। इस प्रकार विचार करते हुये जो स्त्रियों के अनर्थों से अलग रहते हैं, उनके स्त्रीपरीपह जय अर्थात् स्त्रीपरीपह को जीतमा व सहन करना कहलाता है। अन्य वादियों के कल्पना किये हुए त्रत्या आदि विशेष देवताओं के भी चंचल नेत्रों में तिलोत्तमा आदि देव गणिकाओं की रूप संपत्ति देखकर विकार उत्पन्न हो आया था और वे स्त्रीपरीपह रूपी कीचड़ से अपने आत्मा का उद्धार नहीं कर सके थे।

(६) चर्या परीपह जय :-

दीर्घकालाऽभ्यस्तगुरुकुलब्रह्मचर्यस्याधिगतबंधमोक्षपदार्थतत्त्व-
स्य कषायनिग्रहपरस्यभावनापितमनसः संयमायतनादिभक्तिहेतो-
र्देशान्तरातिथेर्गुरुणाऽभ्यनुज्ञातस्य नानाजनपदव्याहारव्यवहाराभि-
ज्ञस्य ग्राम एक रात्रं नगरं पंचरात्रं प्रकर्षणावस्थातव्यमित्येवं यात-
स्यवायोखि निःसंगतामुपगतस्यदेशकालप्रमाणोपेतमध्वगमनमनु-
भवतः बलेशक्षमस्य भीमाटवीप्रदेशेषु निर्भयत्वात्सिंहस्येव सहायकृत्य
मनोक्षमाणस्य परपशर्कराकंठकादिव्यथनजातपादखेदस्यापि सतः
पूर्वोचितयानवाहनादिगमनमस्मरतः सम्यक् चर्यादोषं परिहरतः
चर्यापरीपहजयो वेदितव्यः ।

प्रथम :- जिन्होंने गुरुकुल में (आचार्य सध मे) बहुत दिन तक रहकर ब्रह्म-
चर्य का अभ्यास किया है, जो बंध मोक्ष आदि पदार्थों और तत्त्वों को अच्छी
तरह जानते हैं, कषायों के निग्रह करने में सदा तत्पर रहते हैं जिनका मन सदा
भावनाओं में ही लगा रहता है, जो समय पालन करने के लिये और तीर्थ क्षेत्र

आदि धर्मायतनो की भक्ति करने के लिये अन्य देशों में भी विहार करते हैं, अन्य देशों में जाने के लिये जिन्होंने गुरु से आज्ञा प्राप्त करली है जो अनेक देशों के आहार व्यवहार को अच्छी तरह से जानते हैं। अधिक से अधिक गाँव में एक रात रहेंगे और नगर में पाँचरात रहेंगे यही समझकर जो गमन करते हैं। जो वायु के समान परिग्रह रहित हैं। देश काल के प्रमाण के अनुसार प्राप्त हुए मार्ग के गमन का जिन्हें पूर्ण अनुभव है, जो क्लेशों को सहन करने में समर्थ हैं। भयानक वनों में भी सिंह के समान निर्भय होकर गमन करते हैं तथा क्रिमी तरह की भी महायता की अपेक्षा नहीं रखते। कठिन बालू काटे आदि के द्वारा पर फट जाने में जिनके परों में वेद हो रहा है तो भी पहिले के रथ घोड़ा आदि सवारियों पर किये हुए गमन को कभी स्मरण तक नहीं करते, इस प्रकार जो चर्या (चलने के) दोषों को अच्छी तरह दूर करते हैं उनके चर्या परीपह जय यानो चर्या परीपह को जीतना व सहन करना कहलाता है।

(१०) निपद्या परीपह जय.-

श्मशानोद्यानशून्यायतनगिरिगुहागृह्वारादिष्वनभ्यस्तपूर्वेषु वि-
दितसंयमक्रियस्य धर्मसहायस्योत्साहवती निपद्यामधिरुढस्य प्रादु-
र्भूतोपसर्गोप्ररोगविकारस्यापि सतस्तत्प्रतिदेशादविचलितो मंत्रविद्या-
दिलक्षणप्रतीकारानलोकमाणस्य क्षुद्रजन्तुप्रायविषमदेशाश्रयात्काष्ठो-
पलनिश्चलत्वानुभूतमृदुसंस्तरणादिस्पर्शसुखमवगणयतः प्राणिपीडा-
परिहारोद्यतस्य ज्ञानध्यानभावनाधीनधियः संकल्पित वीरासतेकु-
टिकासंनानादिरतेरासनदोषाजयान्निपद्यातितिक्षेत्याह्वयायते ।

अर्थ :- जो मुनि श्मशान, उद्यान, सूना मकान, पर्वत की गुफा और कोटर आदि ऐसे स्थानों में जाकर विराजमान होते हैं, जहाँ कभी भी पहिले विराज-
न हुए हों, जो समय की सब क्रियायें जानते हैं, धर्म ही जिनका सहायक है जो बड़े उत्साही हैं, उपसर्ग और उग्र रोगों के विकार उत्पन्न होने पर भी उस स्थान से कभी चलायमान नहीं होते, मंत्र विद्या आदि कारणों के द्वारा जो कभी उसका प्रतिकार नहीं चाहते, अनेक छोटे छोटे जन्तुओं के होने से, विषम (ऊँचा नीचा) स्थान होने से जो लकड़ी और पत्थर के समान निश्चल रहते हैं। पहले अनुभव किये हुए कोमल विछोने आदि के स्पर्श के सुख को जो कभी मन तक में नहीं लाते। सदा प्राणियों की पीड़ा दूर करने के लिये ही तत्पर

रहा है जिनकी बुद्धि, ज्ञान प्रीर ध्यान की भावना के ही मागोंन रहो है।
जो प्रतिष्ठा छिदे हुए बीरानन उतुटिकासन मारि मे सदा तत्वोन रहो है।
जिन मुनिगो के ध्यान के रोगो का विजय होने से निपथापरिग्रहहन प्रथम
निपथा परीग्रह का बीतना कतने है।

(११) शंभ्या परीग्रह जय -

श्याध्यायध्यानाध्वभ्रमपरिग्रहितस्य परविषमप्रचुरशकरा कपा-
ममकटानिगोनांभेनुमिप्रवेशेनुमोहृत्तिकीं निग्रामनुभवतो यथाःह-
नंकरावैलम्बायवाविज्ञापिनः सजातगाथाविशेषस्य समार्थमस्पर्य-
भावायः... विज्ञास्यमानस्य पलायनं प्रति
विपतितराजत् व्यपगतानुभवा-
... अथः कदा नु रात्रिद्विरमतीतिमिया इमनाः
... शय्यासहननिति तत्र-

... विपतितराजत् व्यपगतानुभवा-
... अथः कदा नु रात्रिद्विरमतीतिमिया इमनाः
... शय्यासहननिति तत्र-

नच नही होते ऐसे मुनियों के 'संन्यासहन यानी संन्या परीषह का जीतना कहना है ।

(१२) अक्रोश परीषह जय -

तीव्रमोहाःषिष्टमिव्याहृष्टयनार्यंस्तेच्छपलपापाचारमत्तोदृप्त-
शङ्कितप्रयुक्त मा शब्दधिवकारपक्षया च ज्ञानाक्रोशादीन्कर्ममूलग-
तान्हुदयशलोद्भावकान् क्रोधज्वलनशिखाप्रयत्नकरान्ननिप्रायान्
शृण्वतोपि दृढमनो दुर्भाषिणो भस्मसात्कर्तुमपिसमर्थस्यपरमार्थावि-
हितचेतसः शब्दमात्रश्राविणस्तदर्थान्वीक्षणविनिवृत्तव्यापारस्य स्व-
कृताशुभकर्मोदयो ममैव यतोऽभीषां मां प्रति द्वेष इत्येवमादिनि-
वृत्तपरिनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजय इति निर्णयते ।

अर्थः- जो मुनि कान के पास जाते हैं हृदय में शूल उत्पन्न करदे, क्रोधरूपी
अग्नि की गिरा को मूव यथाये ऐसे तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से घिरे हुए
मिव्याहृष्टि, अनायं, स्तेच्छ, गृष्ट पापाचारी मदोन्मत्त और महाभिमानी सरा-
ङ्गित श्रावों के कठोर वचन, धिक्कार के वचन व निन्दा करने वाले, शाली
श्रादि बुरे वचनों को उनके बुरे अभिप्रायों को सुनते हुए भी जिनका मन सदा
दृढ़ रहता है । यद्यपि बुरे वचन कहने वाले को भस्म करने की सामर्थ्य रखते
हैं तथापि परमार्थ की तरफ चित्त लग रहने से उस बुरे वचन कहने वाले की
घोर व उनके अभिप्रायों की घोर कभी श्राय उठाकर देखते तक नहीं, जो
यदा यद्दो विचार करते हैं कि यह मेरे ही अशुभ कर्मों का उदय है जो ये लोग
मुझसे द्वेष करते हैं । इस प्रकार के उपायों से अनिष्ट वचनों को सहन करना
आक्रोश परीषह जय यानी आक्रोश परीषह को जीतना व सहना कहते हैं ।

(१३) अथ परीषह जय -

ग्रामोद्याननगराटवीपुरेषु नक्तं दिवा चैकाकिनो निरावरणमूर्त्तः
समन्तात्पर्यटद्भिश्चौरारक्षकम्लेच्छाचारपुरुषवधिरपूर्वापकारिद्विषत्प-
रलिगिभिराहितक्रोधंस्ताडनाकर्मण्यवन्धनशस्त्राभिघातादिभिर्मार्यमा-
णस्यानुत्पन्नवरस्यावश्यं प्रयातुकमेवेदंशरीरंकुशलद्वारेणानेनापनीयते
न मम व्रतशीलभावनाभ्रंशानमिति भावशुद्धस्य दृश्यमानस्यापि
सतः सुगन्धमुत्सृजतश्चन्दनस्योव शुभपरिमाणस्य स्वकर्मनिर्जराम-

भिसंद्धानस्य दृढमतेः क्षमौषधिवलस्य मारकेषु सुहृत्विवामर्षापोह-
भावनं वधमर्षणमित्याम्नायते ।

अर्थ :- जो मुनि गांव, उद्यान, नगर, वन और पुर में रात दिन अकेले रहते हैं, जिनका शरीर बिल्कुल आवरण रहित है उन मुनियों को चारों ओर फिरते हुये चोर, लुटेरे, म्लेच्छ, जामूस या बहिरे जिनका पहिले कुछ अपकार हो चुका है। स्वाभाविक द्वेष करनेवाले अन्यमती लोग क्रोधित होकर ताड़ना करते हैं; खींचते हैं, बांधते हैं, शस्त्रों की चोट से मारते हैं तथापि जिन्हें बर उतपन्न नहीं होता, वे साधु शुद्ध भावों से यही विचार करते हैं कि "यह शरीर भ्रवस्य ही नष्ट होने वाला है यह कुशलता पूर्वक इसे नष्ट कर रहा है कुछ मेरे प्रव-शील और भावनाओं का नाश तो नहीं करता। इस प्रकार जिनके भावशुद्ध रहते हैं, शरीर को जला देने पर भी जो सुगंध छोड़ते हुए चन्दन के समान अपने परिणामो को सदा निर्मल रखते हैं, अपने कर्मों की निर्जरा करने में ही तत्पर रहते हैं, जिनकी बुद्धि सदा दृढ रहती है। जिनके क्षमा रूपी औपधि ही सबसे बड़ा बल रहता है। जो मारने वाले को भी मित्र के समान ही देखते हैं ऐसे मुनियों के जो ईर्ष्या द्वेष दूर करने की भावना रहती है उसे वधमर्षण यानी वध परोपह का जीतना कहते हैं।

(१४) याचना परोपह जय :-

क्षुदध्वपरिश्रमतपरोरोगादिभिरप्रव्यवितवीर्यास्य शुष्कपादपस्यो-
वनिराद्रमूर्च्छोरुन्नतास्थिस्नायुजालस्य निम्नाक्षपुटपरिशुष्काधरक्षा-
मापाण्डुकपोलस्य चर्मावत्संकुचितांगोपांगत्वचः शिथिलजानुगुल्फक-
टिवाट्टुपांत्रस्य देशकालक्रमोपपन्नकल्पादायिनो वाच्यमस्य मौनिसम-
स्य वा शरीरसन्दर्शनमात्रव्यापारस्योजितसत्वस्य प्रज्ञाऽऽधायितचं-
तसः प्रणात्ययोऽपि वसत्याहारभेषजानि वीनाभिधानमुखवंवर्ष्याग-
संगादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवदुपलक्षितमूर्तः
बहूपु द्रियक्षेपु रत्नयजिजो मणिसन्दर्शनमिव स्वशरीरप्रकाशमकु-
पणं मन्यमानस्य यन्दमानं प्रति स्वरुविकासनमिव पाणिपुटधार-
पमदीनमिति गगयतो याचनासहनमवसोपते । अयत्वे पुनः काल-
दोषादीनानायपाप्रडिब्यक्षे जगत्यामागंगरनात्मवद्भिर्याचिनमनु-

ठोगते ।

अर्थ :- धुधा, मार्ग का परिश्रम, तप और रोगादिक के कारण भी जिनकी शक्ति कम नहीं हुई है ऐसे मुनिराज के, सूके वृक्ष के समान जिनके शरीर में प्रार्द्रता व शिथिलता विल्कुल नहीं आई है परन्तु जिनकी हड्डी और नसों का समूह झुका भी नहीं है ज्यों का त्यों उन्नत रहता है। जिनके दोनों नेत्र नीचे की ओर रहते हैं अधर (ओष्ठ) सूखे रहते हैं, कपोल दुबले और सफेद रहते हैं। चमड़े के समान जिनके अङ्ग और उपाङ्गों का चमड़ा संकुचित हो गया है, जड़ियाँ, एड़ियाँ, कमर व भुजायें जिनकी शिथिल हो गई है जो देश काल के ऋतु के योग्य आहार ग्रहण करते हैं। जिन्होंने बोलना बन्द कर दिया है पर्याप्त मौन धारण कर लिया है जो केवल शरीर को दिखा कर हो वापिस चले जाते हैं। जिनकी शक्ति बहुत बढी हुई है, जिनका चित्त सदा ज्ञान को बढ़ाने में ही लगा रहता है। प्राणों का नाश होने पर भी जो वसति का आहार शौपथियों को, दीन होकर मुख की आकृति विगाडकर या शरीर की संज्ञा (इशारे) से कभी याचना नहीं करते, आहार लेने के समय भी विजली की चमक के समान जो बहुत शीघ्र दिखाई देकर चले जाते हैं। जिस प्रकार रत्न के व्यापारियों को बहुत दिन में अच्छी मणियों का दर्शन होता है इस प्रकार जो अपने शरीर को दिखलाना भी उदारता समझते हैं बंदना व पड़गाहन करने वाले के यहाँ जो हाथों को पसार करपात्र आहार करते हैं उसको भी वे अदीन भाव समझते हैं इस प्रकार याचना नहीं करना यानी याचना परीपह का जोतना कहलाता है। आजकल कालदोष से दीन अनाथ और पाखण्डी बहुत से हो गये हैं, वे ससार में भोक्षमार्ग का स्वरूप और आत्मा का स्वरूप न जानने के कारण याचना करते हैं।

(१५) अलाभ परीपह जय :-

वायुवदसंगानेकदेशचारिणोऽप्रकाशितवीर्यस्याभ्युपगतककालभो-
जनस्य सकृन्मूर्त्तिसन्दर्शितव्रतकालस्य 'देहि' इत्यसम्यक्वाकप्रयोगादु-
परतस्यानुपात्तविग्रहप्रतिक्रियस्याद्येदं श्वश्चेदमिति व्यपेतसंकल्पस्यौ-
कस्मिन् ग्रामे लब्धे सति प्रामान्तरान्वेषणनिरुत्सुकस्यपाणिपुटमात्र-
पात्रस्य बहुषु दिवसेषु बहुषु च गृहेषुभिक्षामनवाप्याप्यसंकलिष्टचे-
तसोनाऽयं दाता तत्राऽन्यो दानशूरोऽतिधन्योवदान्योस्तीति व्यपगत-

परीक्षस्य लाभादप्यलाभो मे परं तप इति संतुष्टस्यालाभविजयो वसेयः ।

अर्थ :- जो मुनिराज वायु के समान विना किसी को साथ लिये व विना किसी परिग्रह के अनेक देशों में विहार करते हैं । जो अपनी शक्ति कभी प्रकाशित नहीं करने, जिनके दिन में एकही बार भोजन करने की प्रतिज्ञा रहती है । आहार के समय किसी के घर जाकर एक बार शरीर दिखलाना (पड़गान न करने पर लौट आना) ही जिनका व्रत रहता है 'दे दीजिये' इत्यादि असम्बन्ध शब्दों के प्रयोग करने का (किसी से मांगने का) जिनके सर्वथा त्याग रहता है । जो शरीर की कोई प्रतिक्रिया नहीं करते । "आज ऐसा है, कल ऐसा होगा" इस प्रकार के संकल्प का जिनके सर्वथा त्याग रहता है । एक गाँव में आहार न मिलने पर जो दूसरे गाँव में ढूँढने के लिए कभी नहीं जाते, जिनके पास केवल हाथ ही पात्र रहते हैं अन्य कुछ नहीं । बहुत दिनों तक और बहुत से घरों में आहार न मिलने पर भी जो अपने हृदय में कभी सकलेश परिणाम नहीं करते । यह दाता नहीं है । अमुक गाँव में अमुक मनुष्य दानशूर है वडा दानी है और अत्यन्त धन्य मनुष्य है इस प्रकार की परीक्षा जो कभी नहीं करते और जो "आहार मिलने की अपेक्षा आहार न मिलना ही मेरे लिये परम तपस्-घरण है इस प्रकार मानते हुए आहार न मिलने से ही परम संतुष्ट रहते हैं ऐसे मुनियों के अलाभ विजय यानी अलाभ परोपह का जोतना कहलाता है ।

(१६) रोग परोपह जय :-

दुःखाधिकरणमशुचिभाजनं जीर्णवस्त्रवत्परिहेयं पित्तमाहतरुक्-
संनिपातनिमित्तानेकाभयवेदनाऽभ्यदितमन्यदीपमिव विग्रहं मन्यमा-
नस्योपेक्षकत्यादाप्रच्युतेषिचकित्साध्यावृत्तचेष्टस्यशरीरयात्राप्रसिद्धो
द्यगानुलेपनवद्ययोपतमाहारमाचरतो विरुद्धाहारसेवाविरसर्वपम्य-
जनित वातादिविकाररोगस्य युगपदनेकशतसंख्याव्याधिप्रकोपे
सत्यःपित्तदुर्भावतितां विजहतो जल्लोपधिप्राप्ताद्यनेकतपोविशेषादि-
योगे सत्यपि शरीरनिस्पृहत्वात्प्रतीकारानुपेक्षिणः पूर्व्वकृतपापकर्म-
मनः कर्मिदमनेनोपायोनाऽनूनी भवतीति चिन्तयतो रोग सहनं
सम्पद्यते ।

अर्थ :- श्री मुनिराज ऐसा विचार करते है कि यह शरीर दुःखों का आधार है अपवित्रता का पात्र है, जीर्ण वस्त्र के समान त्याग देने के योग्य है। पित्त और कफ के संयोग के कारण अनेक रोगों की वेदना से पीड़ित है। आत्मा से किन्तु भिन्न है इस प्रकार जो शरीर के स्वरूप को मानते है, शरीर की और जोधा होने से जो उसके नाम होने तक चिकित्सा (इलाज) करने की चेष्टा कभी नहीं करते। धर्मसाधन करने के लिये शरीर का टिकना आवश्यक है इसलिये जो धाव पर लेप करने के समान योग्य और शास्त्रानुसार आहार करते है विरुद्ध आहार ग्रहण करने से तथा नीरस और विषम आहार ग्रहण करने से वायु आदि के अनेक रोग जिनके हो गये है। एक साथ सैकड़ों व्याधियों का प्रकोप होने पर भी जो कभी उनके वश नहीं होते। जल्ल, श्रौषधि आदि अनेक तपोविशेष से उत्पन्न हुई ऋद्धियों के संयोग होने पर भी शरीर से निस्पृह होने के कारण जो कभी उन व्याधियों के प्रतिकार करने की इच्छा नहीं करते "यह सब पहले किये हुए पाप कर्मों का फल है इस उपाय से (उन रोगों के कारण अर्थात् वे पाप कर्म अपना राग रूप फल देकर नष्ट हो जायेंगे) इसलिये मैं उन कर्मों के ऋण से छूट जाऊँगा" इस प्रकार जो बार बार चिन्तन करते हैं उनके रोग सहन यानी रोग परीपह का जोतना कहते हैं।

(१७) तृणस्पर्श परीपह जय :-

यथाऽभिनवृत्ताधिकरणशायिनः शुष्कतृणपरुषशर्कराभूमिकंठफलकशिलातलादिसु, प्रासुकैष्वसंस्कृतेषु व्याधि मार्गमनशीतोष्णजनितश्रमविनोदार्य शैथ्यां निपद्यां वा भजमानस्य संस्कृतशुष्कतृणादियाधितमूर्तेरुत्पन्नकंडूविकारस्य दुःखमनभिविन्तयतस्तृणादिस्पर्शवाधाभिखशीकृतत्वात्तृणस्पर्शसहनमवगन्तव्यं ।

अर्थ :- जो मुनिराज स्वाभाविक प्राप्त हुए अधिकरण पर सोते व बंटते है। प्रासुक और विना सस्कार किये हुए सूके तृण, कठिन पत्थर की भूमि, काटे और पत्थर के टुकड़े वाली शिलाभूमियों पर व्याधि (मार्ग का चलना) व शीत उष्ण से उत्पन्न हुए परिश्रम को दूर करने के लिये सोने हैं व बंटते हैं। विना सस्कार किये हुए तृणादिकों से जिनके शरीर पर अनेक तरह की बाधाएँ आ रही हैं। खुजली का विकार प्रकट हो रहा है तथापि जो उनके दुःख का कभी चिन्तन नहीं करते। तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न हुई बाधा के जो कभी वश

गर्ही होने इन्हींके उन्हे नृनस्पशं मह्य गानो तृणस्पशं परोपह का जोतना कहलाता है ।

(१८) मत्त परोपह जप :-

जलजन्तुपीडापरिहाराय स्नानप्रतिज्ञस्य स्वैवपु विगद्यसर्वांगस्य वादर निगोदप्रतिष्ठितजीवप्रयार्थं च शरीरसंस्कारविरमणार्थं च परित्यक्तोद्वृत्तनस्य सिद्धमकच्छुद्भ्रद्राणंकायस्य नखरोमशमश्रुकेतविकृत सहजवाह्यमलसम्पर्ककारणानेकत्वग्विकारस्य स्वांगमलापचयेपरमलापचये वा प्रागिहितचेतसः सकल्पितसम्यग्ज्ञानचारित्र्यविलसलिलप्रक्षालनेन कर्ममलपंकापनोदायवोद्यतस्य पूर्वानुमूतस्नानानुलेपनादिस्मरणपराङ्मुख चित्तवृत्तेर्मलधारणमाख्यायते । केशशुचने तत्संस्कारा करणे महान्खेदः संजायते तत्सहनमपि मलधारणेऽन्तर्भवतीति ।

अर्थ :- जलकाय और जलचर जीवों की पीड़ा दूर करने के लिये जिन (मुनिराज) के स्नान न करने की प्रतिज्ञा है, पसीना और धूल से जिनका शरीर मलिन हो रहा है । वादर, निगोद, प्रतिष्ठित जीवों की दया पालन के लिये व शरीर का संस्कार दूर करने के लिये जिन्होंने उवटन आदि कर सब छोड़ दिया है सीपरोग, खुजली और दाद से जिनका सब शरीर भर रहा है । नाखून, रोम, दाढ़ी मूछों के वाला आदि के विकारों से उत्पन्न हुए स्वाभाविक वाह्य मल का सबध होने से जिनके शरीर के चमड़े पर अनेक विकार हो गये हैं अपने शरीर का मल दूर करने के लिये ग्रथवा दूसरे का मल दूर करने के समय जिनका हृदय सदा प्राणियों के हित करने में ही लगा रहता है । कल्पना किये हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य रूपी निर्मल जल से धोकर कर्ममलरूपी कीचड़ को दूर करने के लिये जो सदा तत्पर रहते हैं । पहले अनुभव किये हुए स्नान, उवटन, लेपन का स्मरण करने से जिनकी चित्तवृत्ति सदा पराङ्मुख रहती है ।

भावार्थ :- जो पहले किये हुए स्नानादि का कभी स्मरण नहीं करते उन मुनियों के मल धारण यानी मत्त परोपह का जोतना कहलाता है । केशों का लोच करने और उन वालों का संस्कार कभी न करने में भी बड़ा भारी खेद होता है इनलिये उस भेद को सहन करना भी मत्त परोपह को जोतने में ही शामिल है ।

(१६) सत्कार पुरस्कार परीपह जय :-

चिरोपितब्रह्मचर्यास्य महातपस्विनः स्वपरसमयनिश्चयज्ञस्य
हितोपदेशपरस्य कयामार्गकुशलस्य बहुकृत्यः परवादिविजयिनः
प्रणामभक्तिसंभ्रमास्तनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोतीत्येवमचि-
न्तयतो मानापमानयोः समानमनसः सत्कारपुरस्कारनिराकाशस्य
श्रेयोध्यायिनः सत्कारपुरस्कारजयो वेदितव्यः । सत्कारः प्रशंसादिकः
पुरस्कारो नाम नन्दीश्वरादिपर्वयात्रात्मकक्रियारंभादिष्वगूतः कर-
णमामंत्रणं वा ।

अर्थः- जो मुनिश्वर बहुत काल से ब्रह्मचारी है, महातपस्वी है, अपने मत
के शास्त्र और परमत के शास्त्रों का जिन्होंने खूब अच्छी तरह निर्णय व निश्चय
किया है, जो सदा हितोपदेश देने में तत्पर रहते हैं । प्रथमानुपयोग की कथायें
पढ़ने में जो बहुत ही कुशल हैं, जिन्होंने कई बार परवादियों को विजय किया
है, "प्रणाम, भक्ति और शोषता के साथ आसन देना आदि सत्कार के कार्य
में लिये कोई नहीं करता" इस प्रकार का चिन्तन जो कभी नहीं करते, मान
प्रमान में जिनका चित्त सदा समान रहता है, जो सत्कार पुरस्कार की कभी
इच्छा नहीं करते और सब के कल्याण का ही सदा चिन्तन करते रहते हैं उन
मुनियों के सत्कार पुरस्कार जय यानी सत्कार पुरस्कार परीपह का जीतना
बहुलाता है । प्रशंसा आदि करना सत्कार कहलाता है और नन्दीश्वर आदि
पर्व के दिनों में मथवा रथयात्रा व तीर्थ यात्रा आदि क्रियाओं के आरंभ में
सबसे आगे करना या आमंत्रण देना पुरस्कार कहलाता है ।

(२०) प्रज्ञा परीपह जय :-

अज्ञपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य कूत्स्नग्रन्थार्थधारिणोऽनुत्तरवादि-
नस्त्रिकालविषयार्थविदः शब्दन्यापाऽध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादि-
तरे भास्करप्रभामिभूतोद्योतवन्नितरामवभासत इति विज्ञानमदनि-
रासः प्रज्ञापरीपहजयः प्रयोक्तव्यः ।

अर्थः- जो मुनिराज पूर्व और प्रकीर्णको में अत्यन्त निपुण है । समस्त ग्रन्थों
के अर्थ की जिन्हें धारणा है, कोई भी प्रतिवादी जिनके सामने उत्तर नहीं दे
सकता । जो तीनों कालों के समस्त विषयों के पदार्थों को जानते हों जो व्या-

करण-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र, आदि अनेक शास्त्रों में निपुण है।
 “मेरे सामने अन्य सब वादी लोग सूर्य की प्रभाके सामने तिरस्कृत हुए खद्योत
 के समान सदा प्रतीत होते रहते हैं” इस प्रकार के ज्ञान के अभिमान से जो
 सदा अलग रहते हैं, उनके प्रज्ञा परीपह जय अर्थात् प्रज्ञा परीपह का जीतना
 समझना चाहिये ।

(२१) अज्ञान परीपह जय :-

अज्ञोऽयं न किंचिदपि वेत्ति पशुशम इत्येवमाद्यधिकेपवचनं
 सहमानस्याध्ययनार्थग्रहणपराभिभवादिष्वनासक्तबुद्धेश्चिरप्रविजि-
 तस्य विविधतयो विशेषभाराक्रान्तमूर्तेः सकलसामर्थ्याप्रमतस्य वि-
 निवृत्तानिष्टमनोवाक्कायचेष्टस्थाद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत
 इत्येवं मनस्यसन्दधतोऽज्ञानपरीपहजयोऽवगंतव्यः ।

अर्थ :- “यह मूल्य है कुछ नहीं जानता, पशु के समान है” इत्यादि आक्षेप के
 वचनों को जो मुनिराज सदा सहन करते रहते हैं। अध्ययन करने के लिये
 दूसरे के द्वारा किये हुए तिरस्कार आदि में भी जिनकी बुद्धि कभी आशक्त नहीं
 होती जो बहुत दिन के दीक्षित हैं, अनेक तरह के विशेष २ तपश्चरण के भार
 से जिनका शरीर पात्रान्त हो रहा है जो सब तरह की सामर्थ्य में अप्रमत्त हैं,
 “मैंने अनिष्ट मन, वचन, काय की चेष्टाये सब दूर करदी है तथापि मुझे अव-
 धिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान आदि प्रतिशय ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती” इस प्रकार
 का विचार जो अपने मन में कभी नहीं लाते उनके अज्ञान परीपह का जीतना
 समझना चाहिये ।

(२२) अदर्शन परीपह जय :-

संयमप्रधानस्य दुष्करतपोऽनुष्ठायिनः परमवेराग्यभावना हृद-
 यस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्याहंदायतन साधुधर्मपूजकस्य चिरंत-
 नप्रद्युजितस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते महोपवासाद्यनुष्ठायि-
 नां प्रातिहायीविशेषाः प्रादुरभूवन्प्रतिप्रलापमात्रमिदमनर्थकेयं प्रद्य-
 ज्या विकलं द्यतपालनमित्येव मानसमनादधानस्यदर्शनविशुद्धियो-
 गाददर्शनपरीपहसहनमवसातव्यं ।

अर्थ - जो ऐसे मुनिराजमर्मियों में प्रधान है ऐसे मुनिराज अत्यन्त कठिन २
 तपश्चरण करने वाले हैं, परम वेराग्य की भावना में जिनका हृदय अत्यन्त शुद्ध है,
 जो अनेक वर्षों से तपश्चरण को प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु और प्रकृत के प्राय-

तन मे जो साधु धर्म की सदा पूजा करते हैं और वह साधु मन में विचार करते रहते है कि मैं बहुत दिन का दीक्षित हूँ तथापि मुझे अब तक कोई ज्ञान का प्रतिशय प्राप्त नहीं हुआ है महोपवास आदि तपश्चरण करने वालो को विशेष २ प्राविहार्य प्रकट होते हैं यह बात केवल प्रलापमात्र है। ऐसी दीक्षा लेना बिल्कुल व्यर्थ है और व्रत पालन करना भी निष्फल है" इस प्रकार जो अपने मन में कभी ऐसा विचार नहीं करते है। ऐसे योगिराजों को सम्यग्दर्शन की श्रुता होसे से अदर्शन का जीतना कहलाता है।

एवंपरीषहानसंकल्पतोपस्थितान् सहमानस्यासंक्लिष्टचेतसो रागादिपरिणामाश्रवाभावान्महान् संवरो भवति। एते सर्वेपि परीषहा कर्मोदयजनितास्तद्यथा-

अर्थ :- इस प्रकार बिना संकल्प के उपस्थित हुए परीषहों को जो सदा सहन करते हैं। अपने हृदय में जो कभी सक्लेश परिणाम नहीं करते उनके रागादि परिणामो के द्वारा होने वाले कर्माश्रव का अभाव होने से महान् संवर होता है। ये सब परीषह कर्मों के उदय से प्रकट होते हैं। यही बात आगे दिखाने हैं यानी स्पष्ट करते हैं।

ज्ञानावरणं प्रज्ञाऽज्ञाने, दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभी चारित्रमोहमानकपायोदये नाग्न्यनिषधाऽऽक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः, अरतिवेदयोररतिस्त्रीपरीषहौ, वेदनीयेक्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्दाशैथ्यावधरोगतृणस्पर्शमलाः।

अर्थ :- ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं। दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से अदर्शन परीषह होता है। अन्तराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होता है। चारित्रमोहनीय मान कपाय के उदय से नाग्न्य, निषधा आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं। अरति कर्म के उदय से अरति परीषह और वेद कर्म के उदय से स्त्री परीषह होता है। वेदनीय कर्म के उदय से क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्चा, शैथ्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल परीषह होते हैं।

एकस्मिन् जीव एकस्मिन् काले एकादयः परीषहाः आ एकोनविंशतैर्युगपद् भवन्ति। तद्यथा - शीतोष्णपरीषहयोरैकतरः शैथ्याचर्चानिषद्यानामन्यतम एव भवति। श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञाप्रकर्षे सत्य-

पुद्गलभावापेक्षयाऽज्ञानोपपत्तः सहावस्थाविरोधो न भवति ।
 अर्थः— एक जीव के एक समय में एक साथ एक से लेकर उन्नीस (१९)
 परीपह तक हो सकते हैं । शीत, उष्ण इन दो परीपहों में से कोई भी एक हो सकता है
 सकता है । शैथ्या, चर्या, निपथा इन तीनों में से कोई भी एक हो सकता है
 (इस प्रकार तीन परीपह छूट सकते हैं) । श्रुतज्ञान की अपेक्षा बुद्धि की तीव्रता
 होने से प्रज्ञा परीपह और अवधिज्ञान के अभाव होने की अपेक्षा अज्ञान परीपह
 की उत्पत्ति होती है । इसलिये इन दोनों के एक साथ होने से कोई किसी तरह
 का विरोध नहीं आता ।
 उपयुक्त चाईस परीपह किस २ गुणस्थान में कितने २ होते हैं उनका आचार्य
 द्वारा वर्णन -

मिथ्यादृष्टिसासादनसम्पद्गृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृ-
 ष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतेषु सप्तसु गुणस्थानेषु सर्वे परीपहाः
 सन्ति । अदशान परीपहं विनाऽपूर्वकरण एकविंशति परीपहा भव-
 न्ति । अरतिपरीपहमन्तरेण सर्वदानिवृत्तौ विंशतिपरीपहाः स्युः ।
 अवेदानिवृत्तौ स्त्रीपरीपहे नष्टे एकोनविंशतिपरीपहाः भव्युः । तस्यैव
 मानकपायोदयक्षयात्रग्न्यनिपद्याऽऽक्रोश याचनासत्कारपुरस्कारा वि-
 नश्यान्ति । तेषु विनष्टेषु अनिवृत्तिसूक्ष्मसांपरायोपशांतकपाय-
 क्षीणकपायोषु चतुर्षु गुणस्थानेषु चतुर्विंश परीपहाः सन्ति । क्षीणरू-
 पायो प्रज्ञाऽज्ञानालाभा विनश्यान्ति । सयोगिभट्टारकस्य ध्यानानतनि-
 रंतरतमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततवेदनीयाद्यां कर्म विद्यमानमपि
 प्रक्षीणघातिसहायवत्त्वं स्वप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थं । यथा-विषय-
 यथा छिन्नमूलतटः कुसुमफलप्रदो न भवति । यथोपेक्षावतोरनिवृत्ति
 समसांपरायणोर्मेधुनपरिग्रहसांज्ञा, यथा च परिपूर्णज्ञान एकाग्रवि-
 निरोधाः भावेषु कर्मरजोविधननफलसंभवाद्भयानोपचारस्तथा
 आतिरोगश्रादिवेदनासद्भावपरीपहाभावे वेदनीयकर्मोदयद्रव्य-
 यत्सद्भावादकारणानि सन्ति इत्युपचारो

कर्मोः

व्यसद्भावे एकादश जिने सन्ति । घातिकर्मवलसंहायरहितं वेद्यं
 क्लवन्न भवति । तेनेकादश जिने सन्ति । एवं सति स्यादस्ति स्या-
 नास्तोति । याद्वाद उपपन्नो भवति । तथा च रातकस्य प्रदेशबन्धे
 वेदनीयस्य भागविशेषकारणकचनेऽप्युक्तं । "जम्हा वेदणीधस्स सुहदु-
 र्बोदयस्स णाणावरणादि उपकरणकरणं तम्हा वेदणीयस्सेव सुह-
 दुर्बोदयो हीसवे" इति । तस्माद्वेदनीयं घातिकर्मोदयं विना
 क्लवन्न भवतीति सिद्धम् ।

अर्थः— मिथ्यादृष्टि, सामादन-सम्बन्धदृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, (मिथ्र) असम्य-
 त्वस्यदृष्टि, गयतासयत, प्रमत्तगंयत और प्रमत्तसंयत इन सातों गुणस्थानों
 में सब परीपह होते हैं । अपूर्वकरण नामके आठवें गुणस्थान में अदर्शन परी-
 पह को छोड़कर दोष इषकीस परीपह होते हैं । नौवें गुणस्थान में जहाँ तक वेद
 की निवृत्ति नहीं होती वहाँ तक अरति परीपह को छोड़कर बाकी बीस परीपह
 होते हैं । जहाँ वेद की निवृत्ति हो जाती है वहाँ स्त्री परीपह भी नष्ट हो जाता
 है इसलिये वहाँ उन्नीस परीपह होते हैं । नौवें गुणस्थान में मानकपाय के उदय
 का नाश हो जाने पर नाग्य, निपथा, प्राप्नोष, याचना और सत्कार पुरस्कार
 परीपह नष्ट हो जाते हैं । इन पाँचों परीपहों के नाश हो जाने पर दोष के अनि-
 वृत्तिकरण गुणस्थान में तथा मूढमसापराय, उपशान्त कपाय और क्षीण कपाय
 इन चारों गुणस्थानों में बाकी के चौबह परीपह होते हैं । क्षीणकपाय गुणस्थान
 में प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ परीपह नष्ट हो जाते हैं । जिन्होंने ध्यान रूपी
 अग्नि से घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला दिया है । जिनके अप्रतिहत, अनत
 ज्ञानादि चतुष्टय प्रकट हुआ है । अन्तराय कर्म के अभाव होने से जिनके निरं-
 तर भुभ पुद्गल वगैरों का समुदाय बढ़ता जा रहा है तथापि उसके बल को सहा-
 केवली भगवान के यद्यपि वेदनीय कर्म विद्यमान है तथापि उसके बल को सहा-
 यता देने वाले घातिया कर्मों का नाश हो जाने से उसमें अपना प्रयोजन उत्पन्न
 करने की सामर्थ्य नहीं रही है । जिस प्रकार मन्त्र श्लोपधि आदि के बल से संपं
 की मारणशक्ति (प्राणहरण करने की शक्ति) नष्ट करदी गई है ऐसा विप
 (संपं) खालेने पर भी वह किसी को मार नहीं सकता । जिस प्रकार जिसकी
 जड़ काट डाली गई है ऐसा वृक्ष फल और फूल नहीं दे सकता । उसही प्रकार
 वेदशाब्दिक बल के नौवें दसवें गुणस्थानों में अर्थन और परिग्रह

बुध्यभावापेक्षयाऽज्ञानोपपत्तः सहावस्याविरोधो न भवति ।

अर्थः— एक जीव के एक समय में एक साथ एक से लेकर उन्नीस (१ परीपह तक हो सकते हैं) । शीत, उष्ण इन दो परीपहों में से कोई भी एक सकता है । शीत्या चर्या, निपथा इन तीनों में से कोई भी एक हो सकता (इस प्रकार तीन परीपह छूट सकते हैं) । श्रुतज्ञान की अपेक्षा बुद्धि की तीव्र होने से प्रज्ञा परीपह और अवधिज्ञान के अभाव होने की अपेक्षा अज्ञान परी की उत्पत्ति होती है । इसलिये इन दोनों के एक साथ होने से कोई किसी त का विरोध नहीं आता ।

उपर्युक्त बाईस परीपह किस २ गुणस्थान में कितने २ होते हैं उनका आच द्वारा वर्णनः—

मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतेषु सप्तसु गुणस्थानेषु सर्वे परीपहा सन्ति । अदशनं परीपहं विनाऽपूर्वकरण एकाविंशति परीपहा भवन्ति । अरतिपरीपहमन्तरेण सवेदानिवृत्तौ विंशतिपरीपहाः स्युः । अवेदानिवृत्तौ स्त्रीपरीपहे नष्टे एकोनविंशतिपरीपहाः भवन्त्युः । तस्यै मानकपायोदयक्षयान्नग्न्यनिषद्याऽऽक्रोश याचनासत्कारपुरस्कारा विनश्यन्ति । तेषु विनष्टेषु अनिवृत्तिसूक्ष्मसांपरायोपशांतकपायक्षीणकपायोषु चतुर्षु गुणस्थानेषु चतुर्दश परीपहाः सन्ति । क्षीणकपाये प्रज्ञाऽज्ञानालाभा विनश्यन्ति । तयोर्गिभट्टारकस्य ध्यानानलनिदंघ्यातिकर्मन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावान्तिरंतरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाह्यां कर्म विद्यमानमपि प्रक्षीणघातिसहायवर्लं स्वप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थं । यथा-विपद्र.यं मंत्रोपधिवलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मारणाय समर्थं, यथा छिन्नमूलतरुः कुसुमफलप्रदो न भवति । यथापेक्षावतोरनिवृत्तिसूक्ष्मसांपराययोर्मैथुनपरिग्रहसंज्ञा, यथा च परिपूर्णज्ञान एकाग्रचिन्तानिरोधाः भावेषु कर्मरजोविधननफलसंभवाद्ध्यानोपचारस्तथा क्षुधाद्विरोगवधादिवेदनासद्भावपरीपहाभावे वेदनीयकर्मोदयद्रव्यपरीपहसद्भावादेकादश जिने सन्ति इत्युपचारो कर्मो-

द्वयसद्भावे एकादश जिने सन्ति । घातिकर्मबलसंहायरहितं वेद्यं फलवन्न भवति । तेनेकादश जिने सन्ति । एवं सति स्यादस्ति स्यान्नास्तीति स्याद्वाद उपपन्नो भवति । तथा च शतकस्य प्रदेशबन्धे वेदनीयस्य भागविशेषकारणकथनेऽप्युक्तं । “जम्हा वेदणीयस्स सुहृदु-बुद्धोदयस्स णाणावरणादि उपकरणकरणं तम्हा वेदणीयस्सेव सुहृदु-बुद्धोदयो द्वीसवे” इति । तस्माद्देदनीयं घातिकर्मोदयं विना फलवन्न भवतीति सिद्धम् ।

अर्थः- मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्पद्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, (मिश्र) असय-तसम्यग्दृष्टि, संयतांसयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन सातों गुणस्थानों में सब परीपह होते हैं । अपूर्वकरण नामके आठवें गुणस्थान में जहाँ तक वेदपह को छोड़कर शेष इक्कीस परीपह होते हैं । नौवें गुणस्थान में जहाँ तक वेद को निवृत्ति नहीं होती वहाँ तक अरति परीपह को छोड़कर बाकी बीस परीपह होते हैं । जहाँ वेद की निवृत्ति हो जाती है वहाँ स्त्री परीपह भी नष्ट हो जाता है इसलिये वहाँ उन्नीस परीपह होते हैं । नौवें गुणस्थान में मानकपाय के उदय का नाश हो जाने पर नाग्न्य, निपद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीपह नष्ट हो जाते हैं । इन पाँचों परीपहों के नाश हो जाने पर शेष के अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में तथा सूक्ष्मसापराय, उपदान्त कपाय और क्षीण कपाय इन चारों गुणस्थानों में बाकी के चौदह परीपह होते हैं । क्षीणकपाय गुणस्थान में प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ परीपह नष्ट हो जाते हैं । जिन्होंने ध्यान रूपी अग्नि से घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला दिया है । जिनके अप्रतिहत, अनत जानादि चतुष्टय प्रकट हुवा है । अन्तराय कर्म के अभाव होने से जिनके निरंतर शुभ पुद्गल वर्गणाओं का समुदाय बढ़ता जा रहा है ऐसे भट्टारक सयोग केवली भगवान के यद्यपि वेदनीय कर्म विद्यमान है तथापि उसके बल को सहायता देने वाले घातिया कर्मों का नाश हो जाने से उसमें अपना प्रयोजन उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रही है । जिस प्रकार मत्त घोषधि आदि के बल से सर्प की मारणशक्ति (प्राणहरण करने की शक्ति) नष्ट कर दी गई है ऐना विप (सर्प) खालेने पर भी वह किसी को मार नहीं सकता । जिस प्रकार जिसकी जड़ काट डाली गई है ऐसा वृक्ष फल और फूल नहीं दे सकता । उसही प्रकार बुद्धि नष्ट होने वाले मुनियों के नौवें दसवें गुणस्थानों में मंथन घोर परिग्रह

संज्ञा केवल नाम मात्र की होती है। जिस प्रकार पूर्ण केवल ज्ञान के होने पर एकाग्र चिन्तानिरोध रूप ध्यान का अभाव होने पर भी कर्म रूपी रज के नाम होने रूप फल की संभावना होने से ध्यानका उपचार किया जाता है उस ही प्रकार क्षुधारोग और वध आदि वेदनाओं के सद्भावरूप परीपहों का अभाव होने पर भी केवल वेदनीय कर्म के उदयरूपी द्रव्य परीपह का सद्भाव होने से तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनेन्द्र भगवान के ग्यारह परीपह उपचार से कहे जाते हैं। वेदनीय कर्म के उदय का सद्भाव होने से जिनेन्द्र देव के ग्यारह परीपह होते हैं। घातिया कर्मों के बल की सहायता के बिना वेदनीय कर्म अपना कुछ फल नहीं दे सकता, इसलिये जिनेन्द्रदेव के ग्यारह परीपह नहीं है इस प्रकार स्यादस्ति, स्यान्नास्ति अथत्ति परोपह है भी और नहीं भी है इस प्रकार स्याद्वाद मत प्रकट होता है यही बात प्रदेशवध के कथन करते समय १०० भागो में से वेदनीय के विषय भागो का कारण कथन करते हुए "जम्हा वेदनीयस्स इत्यादि" कहे गये हैं।

सुख दुःख देने वाले वेदनीय कर्म के सहायक जानावरणादि घातिया कर्म है इसलिये उन घातियाकर्मों की सहायता से ही वेदनीय कर्म का सुखदुःखोदय दिखाई पड़ता है"। इससे यह सिद्ध है कि घातिया कर्मोदय के बिना वेदनीय कर्म अपना फल नहीं दे सकता।

नरकतिर्गमत्योः सर्वे परीपहाः मनुष्यगतावाद्यभंगा भवन्ति । देवगतौ घातिरुर्मत्थपरीपहः सह वेदयीपोत्पन्नक्षुत्पिपासा वधैः चतुर्दश भवन्ति । इन्द्रिय कायमार्गणयोः सर्वे परीपहाः सन्ति । वैश्वि-यकद्वितयस्यदेवगतिभंगा तिर्गमनुष्यापेक्षया द्वाविंशतिः । शेषयोगानां वेदादिमार्गणानां च स्वकीयगुणस्थानभगा भवति ।

अर्थ :-नरक और तिर्गचगति में सब परीपह होते हैं। मनुष्यगति में ऊपर वहे धनुसार होने हैं। देवगति में घातिया कर्मों के उदय से होने वाले सात परीपह और वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले क्षुपा, पिपासा और वध इस प्रकार चोदह परीपह होते हैं। इन्द्रिय और कायमार्गणा में सब परीपह होते हैं। वैश्विक और वैश्विक मिश्र योग में देवगति की अपेक्षा देवगति के धनु-सार और तिर्यञ्च, मनुष्यों की अपेक्षा चारैत होने हैं। नैपयोग, मार्गणामें और वेद आदि मय मार्गणाओं में अपने अपने गुणस्थानों के अनुसार परीपहों का उदय होता है।

तपो वर्णनम् :-

रत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तपः अथवा कर्मक्षयार्थं मार्गा-
विरोधेन तप्यत इति तपः तद् द्विविधं, बाह्यमाभ्यन्तरं च । अन-
शनादिबाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यय लक्षणत्वाच्च बाह्यं तत् षड्-
विधं अनशनावमोदयवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशंख्यास-
नकायकलेशभेदात् । अभ्यन्तरमपि षड् विधं, प्रायश्चित्त, विनय, वै-
यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्गं ध्यानभेदात् ।

अर्थः- तपश्चरण का वर्णन किया जाता है:- रत्नत्रय को प्रकट करने के
लिये इच्छा का निरोध करना तप कहलाता है अथवा कर्मों का नाश करने के
लिये मोक्षमार्ग का निरोध न करते हुए तपश्चरण करना तप है । तप के दो
भेद हैं । एक बाह्य तप और दूसरा अभ्यन्तर तप है । अनशन आदि बाह्य-
द्रव्यों की अपेक्षा से या अन्य लोगों को प्रत्यक्ष होने से बाह्य तपश्चरण कह-
लाता है । वह बाह्य तप छह प्रकार का है (१) अनशन, (२) अवमोदयं,
(३) वृत्तिपरिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्तशंख्यासन और (६)
कायकलेश ये उसके नाम हैं । आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं । (१) प्रायश्चित्त
(२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान ।

छह बाह्य तपों का वर्णन :- (१) अनशन तप -

तत्रानशनं नाम यत्किञ्चिद्दृष्टफलं मंत्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रिय-
माणमुपवसनमनशनमित्युच्यते । तत्किन्त्ये प्राणेन्द्रिय संयमप्रसि-
द्धिरागद्वेषाद्युच्छेदहुकर्मनिर्जरणशुभध्यानागमावाप्त्यर्थं तद्विविधम-
वधृतानवधृतकालभेदात् तत्रावधृतकालं सकृद्भोजनचतुर्युषष्टाष्ट-
मदशपक्षमासत्वंयनसंवत्सरेष्वशनपानरवाद्यस्वाद्यलक्षणचतुर्विधाहा-
रनिवृत्तिः । अनवधृतकालमादेहोपरमात् ।

अर्थः- किसी प्रत्यक्ष फल की अपेक्षा न रख कर मंत्रसाधन आदि उद्देशों के
बिना जो उपवास किया जाता है उसको अनशन तप कहते हैं । वह अनशन
प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम की प्रसिद्धि के लिये रागद्वेष आदि कषायों को
नाश करने के लिये बहुत से कर्मों की निर्जरा करने के लिये शुभ ध्यान और
आगम की प्राप्ति के लिये किया जाता है । वह अनशन व उपवास दो प्रकार
का है, एक नियमित समय तक और दूसरा, अनियमित समयतक । दिन ये

एक बार भोजन करना एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, छह दिन, साठ दिन, दसदिन, पन्द्रह दिन, एक महिने, दो महिने, छह महिने और एक वर्ष तक अन्न, पान, गन्ध घोर गन्ध दूध नारों प्रकार के आहारों का त्याग कर देना नियमित समय तक का उपवास कहलाता है। शरीर छूटने तक उपवास धारण करना अनियमित समय तक का उपवास कहलाता है।

(२) अश्विनीयं तपः :-

आत्मीयप्रकृत्योदनस्य चतुर्थभागनाद्धेन प्रासेण वोनाहारनियमोऽश्विनीयं, आवमीदयंमिति च । तदिकमर्थं निद्राजयार्थं दोषप्रशमनार्थमतिमात्राऽऽहारजातविहितस्वाध्यायभयार्थमुपवासश्रमसमुद्भूतवातपित्तप्रकोपपरिहीयमानसंयमसरक्षणार्थं च ।

अर्थः :- अपने लिये स्वाभाविक मिलना भोजन चाहिये उममें चौथाई भाग कम आहार लेने का नियम लेना अथवा एक ग्राम (गाम) आधा ग्राम कम लेने का नियम लेना अश्विनीयं तप कहलाता है। निद्रा को जीतने के लिये दोषों को शान्त करने के लिये अधिक आहार में उत्पन्न होने वाले स्वाध्याय के विघ्नों को दूर करने के लिये और उपवासों के परिश्रम में उत्पन्न होने वाले वात, पित्त के प्रकोप से कम होने वाले समय की रक्षा करने के लिये अश्विनीयं तपश्चरण किया जाता है।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान तपः :-

स्वकीयतपोविशेषेण रसरुधिरमांसशोषणद्वारेणेन्द्रियसंयमं परिपालयतो भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारसप्तवेश्मंकरथ्याद्ध्रामदातृजनवेपगृह भाजन भोजनादिविषयसंकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम् ।

अर्थः :- अपने विशेष तपश्चरण के द्वारा अथवा शरीर के रस, रुधिर, मांस आदि को सुखा कर इन्द्रिय सयम को पालन करने वाले, आहार के लिये गमन करते हुए मुनियों के एक घर, सात घर, एक गली, आधागाँव व दान देने वाले दाता का वेप, घर, पात्र और भोजन आदि के विषय में संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान नाम का तपश्चरण कहलाता है। यह तपश्चरण केवल भोजन की आशा और लालसा दूर करने के लिये किया जाता है।

(४) रसपरित्याग तपः :-

शरीरेन्द्रियरागादिवृद्धिकरक्षीरदधिघृतगुड़तैलादिरसत्यजनं रस-

चतुःशतं सांवत्सरिकस्य पंचशतं, उच्छ्वासानामेयां पंचनां नियमा-
 रास्य कायोत्सर्गं प्रमाणं । अहिंसादिपंचनियमानामन्यतमस्यातीचारे
 सत्येकंकस्याष्टोत्तरशतं, गोचारस्य ग्रामान्तरगमनस्याऽहंक्षमण-
 निपद्यानामुच्चारप्रश्रवणयोश्च पंचविंशतिः । ग्रन्थप्रारंभे परिसमा-
 प्तौ च स्वाध्यायो वन्दनायां प्रणिधाने च सप्तविंशतिः । एवमुक्तो-
 च्छ्वासप्रमाणेन कायोत्सर्गं कृत्वा अनुत्सुकः सन् किञ्चित्कालं धर्म्यं
 शुभं च ध्यायेत् । नाम स्यापनाद्रव्यभावसंनिधानं पुण्यपापाश्रय-
 हेतुरतः चेत्यं चेत्यालयो गुरवो निपद्यास्यानादयश्च सम्पद्गृष्टीनां
 क्रियाहर्हा भवन्ति । अचेतनात्मका व्यपगतदानवृद्धयः कल्पवृक्षचि-
 न्तामणयो यथा च देहिनां पुण्यानुरूपेणाभिलषितार्थं प्रदायिनस्तथा
 जिनविम्बानि, भव्यजन भक्त्यनुरूपेण गीर्वाणनिर्वाणपदप्रदायीनि
 गारुडमुद्रया यथा गरलापहरणं तथा चेत्यालोकनमात्रेणैव दुरितापह-
 रण भवत्यतश्चेत्यस्य तदाश्रयचेत्यालयस्यापि वन्दना कार्या ऐहि-
 कायंनिरपेक्षाः परानुग्रहयुधयोऽकारणबंधवो, मोक्ष परिभ्रष्टजनमा-
 गोपदेशकाः प्रत्यक्षनिस्तारकाश्च ततस्तोभ्यः सकाशात्सन्त्यस्व-ज्ञाना
 ऽऽदानमणु यतं संयमो तपरच भवति ।

अर्थः— इस प्राण करनेवाली क्रियाओं के समय का नियम बतलाने है । दिन
 में होने वाले नियम का एकमौ घाठ उच्छ्वास, रात्रि में होने वाले नियम
 का उसने प्राया अर्धान् चोवन उच्छ्वास, पाक्षिक नियम का तीन सौ उच्छ्वास
 और चतुर्मासिक (चौमासे के) नियम का चारसौ उच्छ्वास तथा वापिक
 नियम का पौवनो उच्छ्वास इन प्रकार पौचो नियमों में कायोत्सर्ग का प्रमाण है ।

प्राणना आदि पौचा नियमों में से किसी एक में अविचार लगने पर
 दूसरे के एकसौ घाठ उच्छ्वास का गोचर अर्धान् घाठार के लिये समन करने,
 एक रात्रि में दूसरे रात्रि तक जाने परहूत देर के पश्च कन्यायिक अथवा समन-
 शरण आदि सेवा ही वन्दना के लिये तथा नापुष्टों के समाधिस्थान ही वन्दना
 के लिये आज के मत सुन करने आदि कार्यों में पश्चोम उच्छ्वास कायोत्सर्ग
 का प्रमाण है । इनके प्राग्भ और समाधि में स्वाध्याय, उदना, और प्रतिपान
 का प्रथम महत्त्व उच्छ्वास कायोत्सर्ग करना चाहिये । इस प्रकार उत्तर
 का उच्छ्वास के प्रमाण में कारोभयं हर बिना किसी अनुकृता के दोनों

के एक धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान करना चाहिये । नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव
 से शोभता पुण्य, पाप का कारण है इसलिये जिन प्रतिमा चैत्यालय गुरु और
 गुरुओं के समाधिस्थान आदि ही सम्यग्दृष्टियों को क्रिया करने योग्य होते हैं ।
 विष प्रकार दान देने की बुद्धि से रहित और अचेतन ऐसे कल्पवृक्ष तथा चिन्ता-
 रत्न एत अपने अपने पुण्य कर्मों के अनुसार प्राणियों को इच्छानुसार पदार्थ
 देते हैं उस ही प्रकार जिनविष भी भव्य लोगो की भक्ति के अनुसार स्वर्ग और
 मोक्ष देते हैं जिस प्रकार गरुड़मुद्रा से विष दूर हो जाता है उस ही प्रकार
 जिनविष के दर्शन करने मात्र से पापों का नाश हो जाता है । इसलिये जिन-
 विष की वन्दना करना चाहिये और जिनविष के आश्रय होने से चैत्यालय की
 भी वन्दना करनी चाहिये । आचार्य आदि गुरु लोग संसार संबंधी किसी कार्य
 से मोक्ष नहीं रखते उनकी बुद्धि सदा दूसरो के अनुग्रह करने में ही लगी
 रहती है । वे बिना ही कारण के सब के बन्धु हैं । मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट हुए
 लोगो को मोक्षमार्ग का उपदेश देनेवाले हैं और संसार से प्रत्यक्ष पारकर देने
 वाले हैं इसलिये ऐसे गुरु जनो से ही सम्यग्दर्शन व ज्ञान का अभ्यास करने से
 अप्रवृत्त, महाव्रत, सयम और तप प्राप्त होता है ।

सामायिक प्रकरण :-

तेन गुरुणां पुण्यपुरुषोवितनिरवद्यनिषिद्यास्यानादीनामुच्चते
 क्रियाविधानं । परायत्तस्य सतः क्रियां कुर्याणस्य मर्मक्षयो न घटते ।
 तस्मादात्माधीनः सच्चैत्यादीन् प्रतिबंदनार्थं गत्वा धौतपादस्त्रिप्रद-
 क्षिणीकृत्यैर्यापथ कायोत्सर्गं कृत्वा प्रथममुपविश्याः॥लोच्य चैत्याम-
 धितकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्योत्थाय जिनेन्द्रचन्द्रदर्शनमात्राग्नि-
 जनयनचन्द्रकांतोपलविगलदानन्वाधुजलधारापूरपरिप्लावितपद्मपटो-
 ऽनादिमवदुर्लभमगवदहृत्परमेश्वरपरमभट्टारक प्रतिविद्यदर्शनजनि-
 तैर्होतृत्कर्मपुलकिततनुरतिभ्रितभरावगतमस्तकन्यस्तकशोशयकुड्म-
 लो दण्डकद्वयस्यादावन्ते च प्राक्तनक्रमेण प्रयृत्य चैत्यस्तवनेन त्रिः
 प्रदक्षिणीकृत्य द्वितीयवारोऽप्युपविश्याः॥लोच्य पंचगुरुभविद्यायोत्सर्ग-
 करोमीति विज्ञाप्योत्थाय पञ्च परमेष्ठिन स्तुत्वा तृतीयवारोऽप्युप-
 विश्याः॥लोचनीयः । एवमात्माधीनता, प्रदक्षिणीकरणं त्रिवारं
 क्रियाकर्मा पद्धतिं भवति।

सिद्धचंद्रत्यपंचगुरुशान्तिभक्ति कुर्यात् । मंगलगोचरप्रत्याख्याने महा-
सिद्धयोगभक्ती कृत्वा गृहीतप्रत्याख्याने श्राचार्यशान्तिभक्ती कुर्यात् ।
वर्षाकाले योगग्रहणे निष्ठापने च सिद्धयोगपंचचंद्रत्यगुरुभक्तयः
कार्याः । चंद्र्य भक्त्याप्रदक्षिणी कुर्वन्, सालोचनव्युत्सर्गं चतसृषु
दिक्षु कुर्यात् । सिद्धान्तवाचनाग्रहणे सिद्धश्रुतभक्ती कृत्वा तदनुश्रु-
ताचार्यभक्ती कृत्वा गृहीतस्वाध्यायस्तत्रिष्ठापने श्रुतशान्तिभक्ती
करोत् । सिद्धान्तस्वार्थाधिकाराणां समाप्तावेकं कायोत्सर्गं कुर्यात् ।
श्रुताधिकाराणां सुबहुमान्यत्वात्तेषामादौ सिद्ध श्रुतसूरिभक्तीः कृ-
त्वासमाप्तावप्येतेन क्रमेण प्रवर्तिते सति षट् कायोत्सर्गं भवन्ति ।
गुरुशामनुज्ञया ज्ञानविज्ञानवैराग्यसम्पन्नो विनीतो धर्मशीलः स्थिर-
श्च भूत्वाऽऽचार्यपदव्यायोग्यः साधुगुरुसमक्षे सिद्धाचार्यभक्ती कृत्वा-
ऽऽचार्यपदवो गृहीत्वा शान्तिभक्ति कुर्यात् । एवमुक्ताः क्रिया यथा-
योग्यं जघन्यमध्यमोत्तमश्रावकैः संयतैश्च करणीयः । किमर्थोव्युत्स-
र्गो निःसंगत्वं निभंयत्वं जीविताशाव्युदासो दोषोच्छेदो मोक्षमार्ग-
भावनापरत्वमित्येवमाद्यर्थः ।

अर्थ - चतुर्दशी के दिन (चंद्र्य भक्ति और पंच गुरु भक्ति के मध्य में) सिद्ध-
भक्ति, श्रुत, शान्ति भक्ति करनी चाहिये । अष्टमी के दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति,
चारित्र्यभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिये । पाक्षिक कायोत्सर्ग में सिद्ध-
भक्ति, चारित्र्यभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिये । सिद्ध प्रतिमा की वन्दना
करते समय सिद्ध भक्ति ही होती है । जिन प्रतिमा की और तीर्थंकरों के जन्म
के दिन पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिये । अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्र्यभक्ति
और शान्तिभक्ति करनी चाहिये । अष्टमी आदि की क्रियाओं में दशान्
पूजा करनी चाहिये । तीनों कालों की वन्दना करने के समय शान्ति भक्ति में
पहिले चंद्र्यभक्ति और पञ्चगुरुभक्ति करनी चाहिये । चतुर्दशी के दिन धर्म
क्रियाओं के व्यासंग से यदि कोई क्रिया न कर सके तो उसे पाक्षिक कायोत्सर्ग
के समय अष्टमी के दिन की क्रिया करनी चाहिये । नन्दीश्वर पर्वों के दिनों में
सिद्ध भक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, पञ्चगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिये ।
प्रतिपेक वन्दना के समय सिद्धभक्ति, चंद्र्यभक्ति पञ्चगुरुभक्ति और शान्ति-
भक्ति । स्थिर और चल दोनों ही प्रकार की जिन प्रतिमा की

एकत्व का निश्चय कर लिया है उसके एक यथाव्याप्त चारित्र्य की वृत्ति धारण करने में मोक्षमार्ग के भाव प्रकट होते हैं इसलिये उसके वह एकत्व कहलाता है। उस एकत्व की प्राप्ति के लिये "इमं संसारं मम भ्रमेला ह्ये, स्वयं और पमंगं छोड़ नहीं है मम भ्रमेला ही जन्म लेता हूँ और भ्रमेला ही मरता हूँ, स्वयं और परत्रन छोड़ भी मनुष्य मेरी व्याधियाँ, बुढ़ापा और मरण आदि के दुःखों को दूर नहीं कर सकता। बन्धु मित्र आदि श्मशान से आगे नहीं जा सकते एवं धर्म ही मेरा गहायक है और वही ऐसा है जो कभी नाश न होगा" इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार से चिन्तन करने से अपने वृद्धियों भागों में प्रेम नहीं बढ़ता और अन्य लोगों में द्वेष नहीं बढ़ता। इस प्रकार रागद्वेष का प्रभाव होने में निःसंगता बढ़ती है और निःसंगता बढ़ने में मोक्ष प्राप्ति होती है। इस प्रकार में एकत्व अनुप्रेक्षा का वर्णन किया गया।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा :-

अन्यत्वानुप्रेक्षाकरणं । अन्यत्वं चतुर्धा व्यवतिष्ठते । नाम स्थापनाद्रव्यभावावलंबनभेदात् । आत्मा जीव इति नाम भेदः । काष्ठप्रतिमेति स्थापनाभेदः । जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति द्रव्यभेदः । एकस्मिन्नपि जीव द्रव्ये बालो, युवा, मनुष्यो, देव इत्यादि भावभेदः । जीव कर्मणो बंधं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वं । जीवस्तावज्ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः । वर्णगंधरसस्पर्शान्तः पृद्गला इति लक्षणरूपो भेदः । प्रति समयमनंतानंता कर्माणवो योगवशादागत्य जीवप्रदेशेष्वन्योन्यप्रदेशानुप्रविष्टाः सन्तः कषायवशादवतिष्ठन्ते । समय प्रत्यनंतानंताः कर्मपृद्गला जीवं परित्यज्य प्रच्यवंत इति बंधं प्रति भेदः नो कर्मपृद्गला अपि बन्धनगुणेन जीवे क्षीरनीरुपायेन कर्मबन्धनस्य भवा प्रतिक्षणं निर्जोषन्ते । जीवः स्वयं कर्मवशात् प्रायोग्य शरीरं निर्माय शरीरस्योऽपि यथा नशरोमन्ता स्थियु न विद्यते । तथा क्लृप्तरवसागृह्णत्सत्त्वेऽन्योन्यमूर्तशरीरमस्तिष्ठति । प्रदेष्टुं प्रदेष्टुं नास्ति एव कर्म नो कर्मशरीरावयवेष्वन्योन्यस्याऽऽप्येव न कः दृग्गत्वस्य प्रयोगमनिधौ शरीरादत्यतद्व्यतिरेकेणाः समनो ज्ञानादिभिन्नवैतन्त्र्यं भाववस्थानं तदव्याप्त्येऽप्येन्द्रियिकं शरीरं

नियोःहं । अत्र शरीरं जस्यभावोःहं, अनित्यंशरीरं नित्योःहं । आद्य-
 त्वच्छरीरमनाद्यनन्तोःहं यतूनि मे शरीरशत सहस्राण्यतीतानि
 वसारे परिग्रमतः । स एवाःहमन्यस्त्येभ्य इत्येव शरीरादन्यत्व मे ।
 द्विमं पुनर्वाट्येभ्य इति चिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा । एवमस्य मनः
 समाधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोत्पद्यते ततश्च श्रेयसे वर्तते ।
 इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा ।

अर्थः— प्रागे अन्यत्वानुप्रेक्षा बहते है । (१) नाम, (२) स्थापना, (३)
 रूप, (४) भाव के प्रयत्नवन के भेद से अन्यत्य चार प्रकार का होता है ।
 पाना है, जीव है यह नाम भेद है । काष्ठ, पापाण आदि की बनाई हुई प्रतिमा
 स्थापना भेद है । (३) यह जीव द्रव्य और अजीव आदि द्रव्य भेद है । (४)
 एक ही जीव द्रव्य में बालक, युवा, मनुष्य, देव आदि भाव भेद है । यद्यपि
 जो कर्मों के बन् होने से दोनों एक हो रहे हैं तथापि लक्षण भेद से दोनों
 भिन्न भिन्न हैं । जीव ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग रूप है । पुद्गल वर्ण, गंध,
 रस, स्पर्शवाला है इस लक्षण से दोनों में भेद हुआ । प्रति समय में अनन्तान्त
 कर्म परमाणु योगों के निमित्त से आते हैं । जीव प्रदेशों में (दूध, पानी
 के समान) परस्पर एक दूसरे के प्रदेशों में मिलकर एक हो जाते हैं कपायो के
 निमित्त से उनमें टहरने की शक्ति हो जाती है इसलिये वे वहाँ ठहर भी जाते हैं ।
 इसी प्रकार प्रतिसमय में अनन्तान्त कर्म पुद्गल जीव को छोड़कर अलग भी
 हो जाते हैं । इस प्रकार यह बध के प्रति भेद सिद्ध होता है । नो कर्म पुद्गल
 भी बंधनगुण से जीव में दूध पानी के समान एक बध रूप हो जाते है फिर
 प्रतिक्षण में निर्जोर्ण होते हैं । यह जीव स्वयं कर्मों के निमित्त से उनके योग्य
 शरीर बनाता है परन्तु वह उस शरीर में रहकर भी जिस प्रकार नख, रोम
 और दाँतों की हड्डियों में नहीं रहता है उसी प्रकार हृदयर, वसा, शुक्र, रस,
 स्लेष्मा, पित्त, मूत्र, पुरीष (भिष्टा) और मस्तिष्क आदि के प्रदेशों में भी
 नहीं रहता । इस प्रकार यह जीव कर्मों व नो कर्मों के द्वारा बने हुए शरीर से
 बिल्कुल भिन्न रहता है । किसी कुशल पुरुष के प्रयोग करने पर (मोक्ष के लिये
 उद्यम करने पर) शरीर से अत्यन्त भिन्न होने के कारण जो आत्मा से कभी
 भिन्न हो नहीं सकते ऐसे ज्ञान आदि अन्त गुणों के साथ साथ मोक्ष स्थान में
 जाकर प्राप्त होता है । उस मोक्ष स्थान के प्राप्त होने के लिये "यह शरीर

एकत्व का निश्चय कर लिया है उसके एक यथाख्यात चारित्र्य की वृत्ति धारण करने से मोक्षमार्ग के भाव प्रकट होते हैं इसलिये उसके वह एकत्व कहलाता है। उस एकत्व की प्राप्ति के लिये "इस ससार में मैं अकेला हूँ, स्व और पर मेरा कोई नहीं है मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ और अकेला ही मरता हूँ, स्वजन और परजन कोई भी मनुष्य मेरी व्याधियाँ, बुढ़ापा और मरण आदि के दुःखों को दूर नहीं कर सकता। बन्धु मित्र आदि श्मशान से आगे नहीं जा सकते। एक धर्म ही मेरा सहायक है और वही ऐसा है जो कभी नाश न होगा" इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार से चिन्तन करने से अपने कुटुम्बी लोगों से प्रेम नहीं बढ़ता और अन्य लोगों में द्वेष नहीं बढ़ता। इस प्रकार रागद्वेष का अभाव होने से निःसंगता बढ़ती है और निःसंगता बढ़ने से मोक्ष प्राप्त होती है। इस प्रकार से एकत्व अनुप्रेक्षा का वर्णन किया गया।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा :-

अथाऽन्यत्वानुप्रेक्षाकरणं । अन्यत्वं चतुर्धा व्यवतिष्ठते । नाम स्थापनाद्रव्यभावावलंबनभेदात् । आत्मा जीव इति नाम भेदः । काष्ठप्रतिमेति स्थापनाभेदः । जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति द्रव्यभेदः । एकस्मिन्नपि जीव द्रव्ये बालो, युवा, मनुष्यो, देव इत्यादि भाव-भेदः । जीव कर्मणो बंधं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वं । जीवस्तावज्ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः । वर्णगंधरसस्पर्शवन्तः पुद्गला इति लक्षणकृतो भेदः । प्रतिसमयमनंतानंता कर्मणवो योगवशादागत्य जीवप्रदेशेष्वन्योन्यप्रदेशानुप्रविष्टाः सन्तः कषायवशादवतिष्ठन्ते । समयं प्रत्यनंतानंताः कर्मपुद्गला जीवं परित्यज्य प्रच्यवंत इति बंधं प्रति भेदः नोकर्मपुद्गला अपि बन्धनगुणेन जीवे क्षीरनीरन्यायेनैकबंधनवद्वा भूत्वा प्रतिक्षणं निर्जीर्यन्ते । जीवः स्वयं कर्मवशात्तत्प्रायोग्य शरीरं निर्माय शरीरस्योऽपि यथा नखरोमदन्ता स्थिपु न विद्यते । तथा रूधिरवसाशुकरसश्लेष्मपिनमूत्रपुरीषमस्तिष्कादिषु प्रदेशेषु नास्ति एवं कर्म नोकर्मशरीरावयवेष्व्योजीवस्याऽन्यत्वं ततः कुशलपुरुषप्रयोगसंनिधौ शरीरादत्यंतव्यतिरेकेणाऽऽत्मनो ज्ञानादिभिरनंतरह्यंमुक्ताववस्थानं तदवाप्तये-ऐन्द्रियिकं शरीरमती-

इन्द्रियमय है। मैं अतीन्द्रिय हूँ, शरीर का आदि अन्त दोनों है परन्तु मेरा आदि है, न अन्त है। मसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे बहुत से शरीर बनीत हो गये परन्तु मैं ज्यों का त्यों वही बना हुआ हूँ और उन शरीरों सर्वथा भिन्न हूँ। हे अज्ञ ! (हे जीव !) यह मेरा आत्मा शरीर से भिन्न फिर धन, धान्यादि बाह्य परिग्रहों की तो बात ही क्या है अर्थात् उनसे भिन्न है ही।" इस प्रकार चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार मैं को समाधान करने वाले इस जीव के शरीर आदि में स्पृहा व इच्छा नहीं होती और उन पदार्थों की इच्छा न होने से यह जीव अपने कल्याण में लजाता है। इस प्रकार यह अन्यत्वानुप्रेक्षा का वर्णन किया।

विशेषः— मादुपिदुसयणसंबंधिणो य सव्वो दि अत्तणो अण्णे ।

इह लोगबंधवा ते ण य परलोगं समं जंति ।

[१० सू. च. ६ अ.] कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थः— माता, पिता, स्वजन और सबधीजन सर्व अपनी आत्मा से भिन्न हैं इस लोक में ये माता, पिता, स्वजन और संबंधी लोग अपनी कार्य करते हैं परन्तु परलोक में ये अपने साथ जाते नहीं। अतः परलोक में ये अपने बाधक नहीं होते हैं।

विशेषः— अण्णो अण्णं सोयदि मज्जेति मण णाहणेति मण्णंतो ।

अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहग्गवे बुड्डं॥ [११ सू. च. ६ अ]

अर्थ— हमारा कोई जीव किसी जीव के विषय में शोक करता हुआ कहता है- कि हाय ! हाय ! मेरा स्वामी मर गया, परन्तु वह अपने लिये शोक नहीं करता है कि मैं मसार समुद्र में निमग्न (डुबा हुआ) हूँ। मसार में लोग जैन हमारे के विषय में विचार करते हैं वैया स्वयं के लिये भी यदि विचार करेंगे तो वे अपना जन्मी ही हिन कर सकेंगे। परन्तु लोग अपने विषय में प्रायः विचार शील नहीं रहते हैं। शरीर में आत्मा भिन्न है।

अण्णं इमं सररीरदिग पि जं होज्ज वाहिरं दव्वं ।

पाणं संसणमादाति एवं चित्तेहि अण्णत्तं ॥ [१२ सू. च. ६ अ.]

अर्थ— यह शरीर, इन्द्रियाँ और मन भी मेरे में भिन्न है तो बाह्य अणु अणु है ही, परन्तु जान और धर्म ही अपनी आत्मा के हैं इस तरह अणु-भावना का धर्म (हे मुझे !) विचारन करो।

प्रकार की है। एक लोकोत्तर और दूसरी लौकिक।

लोकोत्तरपवित्रता - जिसने विशुद्ध ध्यानरूपी जल से अपने समस्त कर्ममल कलङ्क धो डाले है यानी नष्ट कर दिये है। ऐसे आत्मा का अपनी ही आत्मा में स्थिर रहना लोकोत्तर पवित्रता कहलाती है उस लोकोत्तर पवित्रता के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और सम्यक् तपश्चरण है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य तपश्चरण को धारण करने वाले साधुजन उस पवित्रता के अधिष्ठान व आधार है। उस लोकोत्तर पवित्रता के उपाय भूत होने से निर्वाण भूमि आदि भी पवित्र कहलाती है। लौकिक पवित्रता काल, अग्नि, भस्म, मृत्तिका (मिट्टी) गोमय (गोबर) जल पवनादि अज्ञान और निर्विचिकित्सा के भेद में आठ प्रकार की है, परन्तु उपर्युक्त लौकिक शुद्धियों से भी शरीर शुद्ध नहीं होता है। यह शरीर किसी तरह से पवित्र नहीं किया जा सकता, इसका भी कारण यह है कि वह अत्यन्त अपवित्र है। इस शरीर के आधिकारण और अंत के कारण दोनों ही अपवित्र है। इसलिये यह शरीर भी अपवित्र है इस ही बात को आगे स्पष्ट करते हैं। शरीर के आदि कारण अर्थात् शरीर बनने के कारण शुक्र (पिता का धीर्य) और शोणित (माता का रज) है परन्तु वे दोनों ही महा अपवित्र है। शरीर के उत्तर कारण आहार का परिणाम आदि है यह आहार रखने के साथ ही श्लेष्माशय को प्राप्त होता है और वहाँ पर श्लेष्मा के द्वारा कुछ द्रवीभूत होकर पतला होकर और अधिक अपवित्र हो जाता है। वहाँ से पित्ताशय में पहुँचता है और पककर कुछ सद्दा-सा होकर उसमें भी अधिक अपवित्र हो जाता है। पककर वह आहार वाताशय में पहुँचता है। वहाँ वायु में विभक्त होकर (अलग अलग भाग में बटकर) खल भाग और रसभागों में बट जाता है। खलभाग मूत्र, पुरीष (भिष्टा) आदि पतले करडे (घट) जल से विकार में परिणत होकर अलग निकल जाता है। रस भाग शोणित (रक्त या खून व लोह) मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्ररूप परिणत हो जाता है इन सब अपवित्र पदार्थों का पात्र यह शरीर है जो कि भिष्टा के समान ऐसा अपवित्र है कि उसको पवित्र करने का कोई उपाय ही ही नहीं सकता। इस शरीर को अपवित्रता स्नान करने उबटन लगाने घिसने और वस्त्र माला आदि के पढ़िने से भी कभी दूर नहीं हो सकती। जिस प्रकार अग्नि में जो चीज पड़ जाती है वह भी अग्निरूप ही होती जाती है उसही प्रकार चन्दनादि जो पदार्थ इस शरीर पर लगाये जाते हैं वे

नो शरीर रूप ही अपवित्र हो जाते हैं। गोबर, गोरौचन, हाथी के दाँत, चमरोनाय के बाल, मृगनाभि (कस्तूरी) गंडा के मीग, मोर की पूँछ, साँप की मणि और सोप के मोती आदि शरीर से उत्पन्न हुए पदार्थ ममार में पवित्र माने जाते हैं, परन्तु इस शरीर में कुछ भी भाग पवित्र और मुन्दर नहीं है, न जलादि ही-इसके पवित्रता के कारण हो सकते हैं। इस ससार में केवल सम्मर्शन, ज्ञानचारित्र्य ही ऐसे हैं कि जिनकी भावना करने से यह शरीर अत्यन्त पवित्र हो जाता है। इस प्रकार शरीर के वास्तविक चारित्र्य का चिन्तन करना अनुचित्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इस अनुप्रेक्षा के चिन्तन करने से शरीर से वैराग्य उत्पन्न होता है और फिर विरक्त होकर यह जीव-जन्म-मरण रूपी महासागर के पार होने के लिये अपना चित्त लगाता है। इस प्रकार अनुचित्वानुप्रेक्षा का वर्णन किया गया।

विशेषः— मोक्षूण जिनवखदं धम्मं सुहमिहं दुणत्थि लोयम्मि ।

ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चित्तेज्जो ॥

[३५ सू. पा. ६ अ.] कुन्दकुन्दाचार्य-

अर्थ— देव, दानवों में और नरक, तिर्यञ्च, मनुष्यों में श्री-जिनेश्वर के द्वारा कहे हुए धर्म को छोड़ कर दूसरा कोई भी पदार्थ ससार में शुभ नहीं है ऐसा चिन्तन करना चाहिये। जगत में धर्म के बिना अन्य कुछ भी शुभ यानी पवित्र नहीं है ऐसा हे मुने ! तू समझ।

विशेषः— उपर्युक्त जो लौकिक आठ शुद्धियों का वर्णन किया गया है वे केवल लौकिक शुद्धि ही माननी चाहिये इन शुद्धियों को आगम शुद्धि नहीं समझना चाहिये, ये तो केवल लौकिक व्यवहार ही हैं, आगम व्यवहार नहीं। आगम में शोमयादि सब ही वस्तुएँ अशुद्ध मानो गई है ऐसा समझना चाहिये। इनको अशुद्ध समझकर किसी भी आश्रम व मुनि प्रिया में उपयोग नहीं करे ऐसी आगम की आज्ञा है। अतः इसका ही पालन करना चाहिये।

(७)- आश्रवानुप्रेक्षा :-

अयाश्चवाऽनुप्रेक्षावर्णनं विधीयते - । उद्वेगार्थमाश्रवोपक्षेपः
आश्रवाहीहाऽमुत्र चापाययुवता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रिया-
दयः । तद्यथा । अविरलसरलसल्लकीसहकारवंशकुडंगप्रमयनस्त्वच्छ-
सरोवरसलिलावगाहन- मृदुसुखस्पर्शमहीतलविहरणादिगुणसंपन्नाव-

रंगम प्रकट करने के लिये ही आश्रय ग्रहण किया गया है। संसार में कर्मों के बिना आश्रय हैं वे सब इस लोक और परलोक दोनों जगह इस जीव के आभासिक गुणों का नाश करनेवाले हैं। ये इन्द्रियाँ आदि किसी महानदी की शक्ति जानेवाली (जोरों से बहनेवाली) धारा के समान हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के समान मदनोन्मत्त हाथी भी कामेन्द्रिय के वश में होकर अपनी शक्ति को भूल जाता है। देखो ! हाथी में शक्ति कौसी है कि अत्यन्त घने और सीधे ऐसे साल काटना, बास और कुडंग के पेड़ों का तोड़ना, स्वच्छ सरोवर जल में अवनमन करना, मुलायम और जिसका स्पर्श सुख देने वाला है ऐसी पृथ्वी पर अहार करना आदि अनेक गुणों से मुग्धोन्मत्त, वन में विहार करनेवाले, मदाहार, महाकाय (जिसका बहुत बड़ा शरीर है) और बहुत बलवान हाथी कृत्रिम विषों में स्पर्शनेन्द्रिय के सुख के लिये आसक्त चित्त होकर मनुष्यों के वश हो जाता है और फिर मारना, बांधना, दमन करना, सवारी कराना, अड़कुशों से तोड़ना और पैर की एड़ी से मारना आदि अनेक कारणों से उत्पन्न हुए अनेक विष दुखों का अनुभव करता है। वह हाथी परतत्र होकर प्रतिदिन अपने समूह में स्वतंत्रता पूर्वक विहार करने वाले वनवास के सुख का स्मरण करता है और बार बार उसका स्मरणकर अत्यन्त दुःखी होता है। इस तरह जिह्वा इन्द्रिय के विषय के लाभ से किसी नदी के प्रवाह के वेग में पड़े हुए मृत्युंगत (मरे हुए) हाथी के शरीर पर बैठे हुए कौवे अपार महासागर के भीतर पहुँच जाते हैं और वहाँ पर अनेक तरह के दुःख उठाते हैं। इस ही प्रकार अगाध जल में रहने वाली और नेत्रों के द्वारा दिखाई न देनेवाली मछलियाँ भी केवल रसना इन्द्रिय के वश होकर मास के लोभ से लोहे की कील का आस्वादन करके मर जाती हैं। घ्राण इन्द्रिय के लोलुपी सर्प श्लेषमिली हुई मुगन्धि के लोभ में आकर मरने की इच्छा करते हैं। भ्रमर भी हाथी के मद को मुगन्धि के लोभ में पड़कर हाथी के इधर उधर चलाये हुए कानों की चोट मारकर मर जाते हैं। चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत हुए पतङ्ग दीपक को देखकर चंचल हो जाते हैं और उसमें पड़कर जल जाते हैं व मर जाते हैं। जिनका मन श्रोत्र इन्द्रिय के विषय में (मधुर राग में) आसक्त हो गया है ऐसे हरिण भी गीतों की मधुर ध्वनि के राग में खड़े होकर हरी घास का खाना भी भूल जाते हैं और फिर बहेलियों (शिकारियों) के द्वारा मारे जाते हैं। ये सब दुःख तो इन्हें इस लोक में ही भोगने पड़ते हैं। इसके विषय परलोक में अनेक तरह के

दुःखों से भरी हुई बहुतसी योनियों में उन्हें परिभ्रमण करना पड़ता है। (यह तो निर्यन्त्रों का उदाहरण बतलाया। मनुष्यों में भी अनेक वड़े पुरुष ऐसे हुए हैं जिन्हें एक एक इन्द्रिय की आसक्ति में अनेक तरह के दुःख भोगने पड़े हैं।) अश्वघोष विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा था और वह तीन खण्ड का अधिपति (स्वामी) था परन्तु उमका चित्त स्वयंप्रभा के अङ्गस्पर्श से उत्पन्न हुए सुख और स्पर्श के लाभ होने के लोभ में फँस गया था, इसीलिये उसे अपने पुत्र व भाईयो सहित मरना पड़ा था। राजा सुभीम सकल चक्रवर्ती राजा था और छोटे छोटे का स्वामी था तथापि रसना इन्द्रिय और घ्राण इन्द्रिय का लोलुपी होने में उसे बीच समुद्र में जाकर वैश्य के बेश को धारण करने वाले जन्म-जन्मान्तर के बंदी देव के हाथ से मर जाना पड़ा। इस ही तरह अर्द्धचक्रवर्ती दमितारि भीमनी का नृत्य देखने में आसक्त होकर अपने सब कुटुम्बियों सहित मरण को प्राप्त हुआ था। इस ही प्रकार यशोधर महाराज की अमृतमति नामकी महादेवी ज्ञाथोवान (महायत) के मधुर गीतों के शब्द सुनने में आसक्त होकर अपने कुल में अट्ट हो गई थी, उमका शरीर कुट्ट (कोठ) से भरगया था और मरकर उसे नरक के अनेक दुःख भोगने पड़े थे। इस प्रकार के महा-पुरुष लोग भी विप के समान केवल एक एक इन्द्रिय के विषयों से नष्ट हो गये थे। फिर पाँचों इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा करनेवालों की तो बात ही क्या है? इस प्रकार आश्रय के दोषों का चिन्तन करना आश्रवानुप्रेषा है। इस तरह चिन्तन करने से क्षमादि धर्म ही कल्याणकारी जान पड़ते हैं और फिर उनमें अपनी बुद्धि कभी नहीं हटती। ये आश्रय के सब दोष कच्छप के मनान इन्द्रियों का निरोध करने वालों के नहीं होते हैं। इस प्रकार आश्रवानुप्रेषा का वर्णन किया गया।

विशेषः— दुःखमयमीणपउरे संसारमहृण्णवे परमधोरे ।

जंतू जंतु णिमज्जदि कम्मसावहेदुयं सत्त्वं ॥

अर्थः— त्रिगुण दुःख भय रूपी मन्मथ बट्टन विचरते हैं तममें प्रत्यन्त भयदर ममार मनुद्र में प्राणी दुःखता है उममें कर्माश्रय ही कारण है।

रागो दोसो मोहो इदियसण्णा य गारवकसाया ।

मणवयणकायसहिदा दु आसवा होति कम्मरस ॥ [३. ५. ३३]

अर्थः— यह तीव्र राग, द्वेष, मोह तथा पञ्चेन्द्रियों के बगहोरकर एव साक्षात्

अथ, संयुक्त, परिग्रह ऐसी चार संज्ञायें व श्रद्धिगौरव, सातगौरव ऐसे तीनगौरव और शोवादि कर्मायों के वश होकर मन, वचन, काय की हलन चलन क्रियाओं में सब कर्माध्यव करता रहता है और उसही का फल जीव सदा भोगता रहता है।

रंजेदि असुहकुणये रागो दोसो वि दूसदे णिच्चं ।

मोहो वि महारिवु जं णियदं मोहेदि सब्भावं ॥

[मू. भा. ३८ अ ६] कु. कु. चा.

अर्थ:— राग भाव जीव को कुत्सित पदार्थ में अनुरक्त करता है। द्वेष सुन्दर वस्तु में भी द्वेष उत्पन्न करता है अर्थात् द्वेष भाव सम्यग्दर्शनादिको में नित्य प्रतीति (वैर) उत्पन्न करता है। मोह महावैरी है यह निश्चय से जीव के परमाण्वं स्वरूप को आच्छादित करता है।

जिण वयण सदहाणो वि तिव्वमसुहगदिपावयं कुणदि ।

अभिभूदो जेहि सदा धित्तेसिं रागदोसणं ॥

[मू. भा. ७३ अ धिक्कार ८] बट्टेरे स्वामी

अर्थ:— यह जीव जिन रागद्वेषों को पीड़ित हुवा जिनवचन का श्रद्धान करता हुवा भी सदा अशुभगति का कारण तीव्र पाप को करता है इसलिये उन रागद्वेषों को धिक्कार हो।

उपर्युक्त गाथा का आशय यहाँ पर इस प्रकार समझना चाहिये:—

धिद्धि मोहस्स सदाजे हिदत्थेण मोहिदो संतो ।

ण विवुज्झदि जिणवयणं हिदसिवसुहकारणं मगं ॥ [मू. भा. ७३ अ ८]

अर्थ— मोह की बार बार धिक्कार हो। मोह का नाश हो। हृदय में निपटने हुए इस मोह से मूढ होकर यह आत्मा हितकर और मोक्षमुख का कारण ऐसे जिनागम को नहीं जानता है। अतः इस मूढ बनाने वाले मोह को बार बार धिक्कार हो।

एव बहुप्पयारं कम्म आसवदि दुट्ठमट्ठविहं ।

णाणावरणादीयं दुक्खविवागन्ति चित्तेज्जो ॥

[मू. भा. ४५ अ ६] वृन्दव्याख्यः

अर्थ— इस प्रकार ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों के उत्तर भेद १८८ (एक सौ अड़तालीस) होते हैं। वे सब कर्म भेद प्रतिगय दुःख दायक हैं। इन कर्मों में दुःखदायक कर्माध्यव होता है, ऐसे चिन्तन करना चाहिये। यही आध्वानुपदेश है।

(८) संवरानुप्रेक्षा:-

अथ संवरानुप्रेक्षावर्णनं विधीयते । आश्रय निरोधःसंवरः । यथा वणिङ् महाणवे यानपात्रविवरद्वारजलाश्रयपिधाने निरूपद्रवमभिलषितदेशान्तरं प्राप्नोति । तथा मुनिरपि संसारार्णवे, शरीरयोतस्येन्द्रियविषयद्वारकर्मजलाश्रयं तपसा पिधाय मुक्तिवेलापत्तनं निर्विघ्नं प्राप्नोति । इत्येवं संवरगुणाऽनुचितनंसंवरानुप्रेक्षा । एवमस्य चिन्तयतः संवरे नित्योद्युक्तता भवति । इति संवरानुप्रेक्षावर्णनम् ।

अर्थ - घाने संवरानुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं । आश्रय को रोकना ही संवर है । जिस प्रकार कोई पशु महासागर में चलने हुए जहाज के छिद्रों को या पानी घाने के मार्ग को बन्द कर फिर निर्विघ्न रीति से देशान्तर पहुँचता है उसी प्रकार मुनिगुरु भी समार रूपी महासागर में पड़े हुए शरीररूपी जहाज के कर्मरूपी जल के घाने के कारण ऐसे इन्द्रियों के विषयरूपी द्वारों को तपस्वरूप से बन्द कर निर्विघ्न रीति से मोक्ष रूपी महानगर में पहुँच जाते हैं । इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन करने में संवर में मदा मावधानी और तत्परता रहती है । इस प्रकार संवरानुप्रेक्षा का वर्णन किया ।

विशेषः- संवरकलं तु निव्वाणमेति संवरसमाधिसंजुतो ।

निवृत्तजुतो भावय संवर इणमो विसुद्धपो ॥ [सू. ११. ५१ अ. ६]

अर्थ :- संवर का कल मोक्ष है अर्थात् संवर में नवीन कर्मों का प्रागमन प्राप्ता में नहीं होता है और पुण्यो कर्म जब प्राप्ता में निकल जाते हैं तब प्राप्ता रागद्वेषदुःख नहीं होता है । अपनी शुद्धपरिणति में बड़ा तत्पर होता है, जिसमें उसका मोक्ष सुख ही प्राप्ति होती है । संवर में और समाधि में यानी संवर-ध्यान में कुछ होकर निश्च तत्पर होकर मरदा इस संवर का चिन्तन करना चाहिए । 'सुने' रागद्वेष छोड़कर विमृष्टात्मा होकर संवर का प्रत्यक्ष में चिन्तन कर ।

(९) निर्वरानुप्रेक्षा -

अथ निर्वरानुप्रेक्षावर्णनं विधीयते । कर्मरुदेशगतन निर्वरा, सावि देधा, उदयोदीरणा विकल्पात् । तत्र नरकादिषु कर्मकल्पवि-
पाकोदयोद्भवया, परीपत्रयादुदीरणाद्भवया सा गुणानुप्रेक्षा निर-

संसार संसारतत्त्व अथोक्तमप्यस्य कथयति ।
 संसारं हि द्वैतं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।
 सवसा हि द्वैतं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।
 अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।
 अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।
 अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।

अथ - विषय आशयों के कारणों का विचार पूर्ववत्कथं उक्तं एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।
 अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।
 अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।

विचारः - अथोक्तमप्यस्य कथयति ॥
 अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।
 अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।

अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।
 अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।
 अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।

अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।
 अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।
 अथ - एतत्तत्त्वमिदं नाम सवसा पुनः सोऽप्यस्य ।

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS
530 N. Dearborn Street, Chicago, Ill. 60610
1977

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS
530 N. Dearborn Street, Chicago, Ill. 60610
1977

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS
530 N. Dearborn Street, Chicago, Ill. 60610

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS
530 N. Dearborn Street, Chicago, Ill. 60610
1977

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS
530 N. Dearborn Street, Chicago, Ill. 60610

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS
530 N. Dearborn Street, Chicago, Ill. 60610
1977

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS
530 N. Dearborn Street, Chicago, Ill. 60610

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS
530 N. Dearborn Street, Chicago, Ill. 60610

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS
530 N. Dearborn Street, Chicago, Ill. 60610
1977

का वर्णन किया गया ।

(११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा :-

अथ बोधिदुर्लभाऽनुप्रेक्षावर्णनं विधीयते । स्कन्धांडराऽऽवासपु-
लविशरीरेषु स्कन्धा असंख्यातलोकमात्रः एकैकस्मिन् स्कन्धेऽसंख्या-
तलोकमात्रा अण्डरा एकैकस्मिन्नंडर आवासा असंख्यातलोकमिता
एकैकस्मिन्नावासे पुलवयोऽसंख्यातलोकप्रमाणाः, एकैकस्मिन्पुलवो
असंख्यातलोकप्रमितानि शरीराण्येकैकस्मिन्निगोदशरीरे जीवाः सर्वा-
तीतकालसिद्धानामनंतगुणाः ।

उक्तं च- एयणित्रोयसरीरे जीवा दन्वप्पमाणदो दिट्ठा ।

सिद्धेहि अणंतगुणा सर्वेहि वित्तीदकालेहि ॥

इत्येवं सर्वलोको निरन्तरं निश्चितःस्थावरस्ततस्तत्र बालुकास-
मुद्रे पतितवज्रसिकताकणिकेव वसता दुर्लभा तत्र च विकलेन्द्रिया-
णां प्रचुरभूयिष्ठत्वात्पंचेंद्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या । तत्र
च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्यभवश्चतुष्पथे
रत्नराशिवद्दुरासदस्तत्प्रच्यवे पुनस्तदुपपत्तिर्दग्धतरूपुद्गलतद्भा-
वाऽऽपत्तिवद्दुर्लभा । तल्लाभे च कुदेशानां हिताहितविचारविरहि-
तानां पशुसमानमानवाकीर्णानां बहुत्वात्सुप्रदेशः पापाणेषु मणिरिव
न सुलभः । लब्धेऽपि सुदेशे पापकर्मजीवकुलाकुलत्वात्कुलेजन्म वृद्धो-
पसेवाविरहिते विनयवत्कृच्छ्रलभ्यं । लोकस्य कुले हि जातिः
प्रायेण शीलविनयाचारसंपत्तिकरी भवति सत्यामपिकुलसंपदि दीर्घा-
युरिन्द्रियवलरूपनिरोगत्वादीनि दुर्लभानि । सर्वस्वपि तेषु लब्धेषु
सद्धर्मंप्रतिलंभो यदिन स्यात् व्यर्थं जन्म वदनमिव दृष्टिविकलं । तमे-
वमतिदुर्लभं सद्धर्मं कथं कथमप्यवात्य विषयसुखे रंजनं भस्मार्यं
चन्दनदहनमिव विफलं । विरपतविषयसुखस्य तपोभावनाधर्मप्रभा
वनासुपमरणादिलक्षणः समाधिदुर्लभस्तस्मिन्सति बोधिलामः फल-
वान् भगतीति चित्तनं बोधिदुर्लभत्वाऽनुप्रेक्षा एवमस्य भावयतो
बोधि प्राप्य प्रमादो न कदाचिदपि भवति । इति बोधिदुर्लभानु-

प्रेक्षावर्णनं ।

अर्थ- ध्रुव आगे बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं। स्कन्ध, अण्डर, पादास, पुलवि और शरीरों में स्कन्धों की संख्या, असंख्यात लोकमात्र है। एक एक स्कन्ध में असंख्यात लोकमात्र अण्डर हैं। एक एक अण्डर में असंख्यात लोकप्रमाण आवास है। एक एक आवास में असंख्यात लोकप्रमाण पुलवि है। एक एक पुलवि में असंख्यात लोक शरीर है और एक एक निगोद शरीर में अनन्त अतीतकाल में होने वाले सिद्धों से अनन्तगुणे जीव है। यह बात अन्य ज्यों (गोमट्टसारादि) में लिखी है। "एणयिओय इत्यादि"।

"एक निगोद शरीर में द्रव्य प्रमाण में जीवों की संख्या समस्त व्यतीत काल के सिद्धों से अनन्तगुणी है" इस प्रकार यह समस्त लोक स्थावर जीवों से भरा रहता है। जिस प्रकार बालू के समुद्र में पड़े हुए हीरा के कणों का मिलना अत्यन्त कठिन है इसी प्रकार इन स्थावर जीवों में से त्रसपर्याय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। त्रस पर्याय में भी विकलेन्द्रियों की संख्या बहुत है इसलिये जिस प्रकार गुणों में कृतज्ञता अत्यन्त कठिनता से मिलती है उसी प्रकार त्रसों में पचेन्द्रिय होना अत्यन्त कठिन है। पचेन्द्रियों में भी पशु हरिण, पक्षी, माप आदि तिर्यचो की संख्या बहुत है, इसलिये जिसप्रकार किसी चोराहे पर (चोरास्ते पर) रत्नों की राशि मिलना कठिन है उस ही प्रकार पचेन्द्रियों में मनुष्यभवं प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।

यदि मनुष्य जन्म मिलकर नष्ट हो गया तो जिस प्रकार जिसकी लकड़ी जड़ आदि सब जलादी गई है ऐसा वृक्ष फिर से नहीं उग सकता (अङ्कुर युक्त नहीं हो सकता) उसही प्रकार मनुष्य जन्म का फिर से मिलना अत्यन्त कठिन है। कदाचित् दुबारा मनुष्य जन्म मिल भी जाय तो जिन्हें हिताहित का कुछ विचार नहीं है और जो मनुष्यों का आकार धारण करने वाले पशुओं के समान है ऐसे कुदेशों में रहने वाले मनुष्यों की संख्या बहुत है इसलिये जिस प्रकार पत्थरों में मणि का मिलना मुलभ नहीं है उसही प्रकार किसी मुप्रदेग में उत्पन्न होना भी मुलभ नहीं है। कदाचित् मुप्रदेग में भी मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाय तो भी यह लोक प्रायः पाप कर्म करने वाले जीवों के समूहों में भरा हुआ है इसलिये जिस प्रकार वृद्धों की सेवा न करने वालों को विनय का प्राप्त होना कठिन है उसी प्रकार अच्छे कुल में जन्म लेना बहुत ही कठिन है। अच्छा कुल मिलने पर भी प्रायः जीवों की जाति ही शील, प्रिय, आचार,

सपदा देनेवाली होती है। यदि कदाचित् कुल सपदा आदि प्राप्त भी हो जाये तो दीर्घ आयु, उन्द्रिय, बल, रूप और निरोगता आदि प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। उन समस्त मयोग के प्राप्त होने पर भी यदि सद्धर्म धारण करने का लाभ न हो तो जिम प्रकार विना नेत्रों के मुखमण्डल व्यर्थ है उसी प्रकार उसका मनुष्य जन्म लेना भी व्यर्थ ही है। यदि वही अत्यन्त दुर्लभ सद्धर्म जैसे जैसे प्राप्त हो जाय और फिर भी वह जीव विषय मूत्र में निमग्न रहे तो जिस प्रकार केवल भस्म के लिये चन्दन का जलाना व्यर्थ है उसी प्रकार उसका सद्धर्म प्राप्त होना भी निष्फल है। जो विषय सुखों से विरक्त हो गया है उसके लिये भी तपश्चरण की भावना, धर्म की प्रभावना और सुख मरण अर्थात् समाधिमरण रूप समाधि व ध्यान की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। इन सब सामग्रियों के मिल जाने पर भी रत्नत्रय का प्राप्त हो जाना ही सफल गिना जाता है। इस प्रकार चिन्तवन करना बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है। इसके चिन्तवन करने से रत्नत्रय को पाकर फिर कभी प्रमाद नहीं करता है। इस प्रकार बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा का वर्णन किया गया।

विशेषः— सेयं भवभय महणी बोधी गुण वित्थडा मए लद्धा ।

जदि पडिडा ण हु सुलहा तम्हा ण खमो पमादो मे ॥

[श्रु. चा ६७ अ ६] कु. कु. चा

अर्थ -- यह सम्यग्दर्शन मसार रूपी भय का नाश करने वाला है और गुणों में विस्तीर्ण अर्थात् सर्वगुणों का आधार है ऐसा सम्यग्दर्शन मुझ को प्राप्त हुआ है। यदि मसार समुद्र में यह सम्यग्दर्शन रत्न मुझ से नष्ट होगा तो वह अर्ध-पुद्गलापरावर्तन काल तक मुझे सनार में भ्रमण किये बिना प्राप्त नहीं होगा यानी इस मसार में उत्कृष्टपने से अर्धपुद्गलपरावर्तन तक मेरा भ्रमण होने पर पुनः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी। अतः प्रमाद करना मुझ को बिल्कुल मयोग्य है।

दुल्लहलाहं लध्दूण बोधिजो णरो पमादेज्जो ।

सो पुरिसो कापुरिसो सोयदि कृगादि गदो संतो ॥

[श्रु. चा ६८ अ. ६] सुन्दरुम्भायं

अर्थ :- मसार का क्षय करने में समर्थ ऐसे सम्यग्दर्शन की दुर्लभता होने पर भी जो पुरुष प्रमादयुक्त होगा उनको कुपुरुष कहना चाहिये। ऐसा कुपुरुष नर-नारिनुगतियों में भ्रमण करता हुआ दुःखी होता है।

बोधाए जीववच्चादियाइं युग्माइ हु णव चि तच्चाइं ।

गुणसयसहस्र कलियं एवं बोहि सया झाहि ॥

[७? मू. वा. ६ अ.] इन्द्रकुन्दाचार्य

अर्थ:- बोधि की प्राप्ति होने पर जीव, प्रवीण, प्राश्रय, पुण्य, पाप, बंध, शर, निबंध, मोक्ष ऐसे नव पदार्थों का स्वरूप आत्मा जानता है। पदद्रव्यों में, पचास्तिकायों को घोर मूक्त तत्त्वों को जानता है। बोधि के द्वारा आत्मा, देह, द्रव्य, पचास्तिकाय घोर पदार्थों को जानता है, इसलिये लक्ष्याधिगुणों से मुक्त होने बोधि सर्वकाम हे प्राप्मान् । तेरे द्वारा ध्यायी जाना चाहिये अर्थात् बोधि का तू मदा चिन्तन कर । (१२) धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा -

अथ धर्मस्वाख्याताऽनुप्रेक्षावर्णनं विधीयते । चतुर्दशगुणस्याना-
नां गत्यादि चतुर्दशमार्गणास्यानेषु स्वतत्त्वविचारलक्षणो धर्मः ।
निःश्रेयसप्राप्तहेतुरहो भगवद्भिरहंद्भिः स्वाख्यात इति चिंतनं धर्म-
स्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा । एवमस्य चिंतयतो धर्मानुरागः सदा प्रतिपन्नो
भवति । इत्येवं चिन्तनं संस्थानविचयमष्टमं धर्मं ।

अर्थ:- गति आदि चोदह मार्गणा स्यानों में चोदह गुणस्थानों के आत्म तत्त्व का विचार करना धर्म है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय भगवान् अरहन्त देव ने ही बतलाया है इस प्रकार से चिन्तन करना धर्म स्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है। दस अनुप्रेक्षा के चिन्तन करने से धर्मानुराग सदा बढ़ता रहता है इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना संस्थान विचय नामका आठवाँ धर्म-
प्यान है ।

विशेष:- सच्च जगसस हिवकरो धम्मो तित्थंकरेहि अक्खादो ।
धण्णा तं पडिबण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया ॥

[मू. वा ५६ अ. ६] कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ:- उत्तमक्षमादिलक्षण-धर्म सर्व जगत् का हित करता है, ऐसे धर्म का प्रतिपादन तीर्थंकरों ने किया है। तीर्थंकर प्रतिपादित धर्म का जिन्होंने निर्मल अथ.करण से स्वीकार किया है वे पुरुष धन्य है, पुण्यवान है और वे जगत में कृतार्थ हुए हैं ।

जेणेह पाविदब्बं कल्लाणपरंपरं परम सोक्खं ।
सो जिणदेसिदधम्मं भावेणुववज्जदे पुरिसो ॥

[६० अ. ६ मू. वा.]

अर्थ :- जिस जीव को इस जगत् में निरंतर मंगल और उत्कृष्ट सुख चाह है वह तीर्थंकर प्रतिपादित धर्म को शुद्ध भाव से धारण करता है । पुरुष परमार्थ में धर्म के ऊपर श्रद्धा न करता है, उसका सेवन करता है अल्प भी पापाचरण नहीं करता है ।

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेएग्गदा य जह जहसे ।

तह तह य मोक्खसोक्खं श्रक्खीणं भावियं होइ ॥ [६२ अ. ६ सू. चा]

अर्थ - उपशम- इन्द्रिय नियंत्रण करना, दया - प्राणियों पर प्रेम करना, शक्ति अपने मन में क्रोधादिकोंकी उत्पत्ति न होने देना अर्थात् दूसरों के उपद्रव सहन करना ये भाव और वराग्य जैसे-जैसे जीव के बढ़ते हैं वैसे वैसे जीव को अक्षय मोक्ष मुख की प्राप्ति होती है ।

संसारविसमदुग्गे भगवहणे कह वि मे भमंतेण ।

दिट्ठो जिणवरदिट्ठो जेट्ठो धम्मो त्ति चित्तेज्जो ॥ [सू. चा. ६३ अ. ६]

अर्थ - यह संसार विकट वन के समान है, इसमें अनेक प्रकार के धर्म धारण कर मैं व्याकुल हुआ हूँ । अत्र मुझे जिनेश्वर के द्वारा कहा हुआ श्रेष्ठ धर्म प्राप्त हुआ है । इस प्रकार से चिन्तन करना चाहिये । यही धर्मानुप्रेक्षा है ।

अणुवेखाहि एवं जो अत्ताणं सदा विभावेदि ।

सो विगदसव्व कम्मो विमलो विमलालयं लहादि ॥ [७२ अ. ६ सू. चा]

अर्थ - इस प्रकार अनुप्रेक्षाओं में जो अपनी आत्मा को सर्वकाल जोड़ता है अर्थात् अनुप्रेक्षाओं का सर्वदा चिन्तन करता है वह पुरुष सर्व कर्ममलों में रहित होता है यानी निर्मल के आलय को अर्थात् मोक्ष स्थान को प्राप्त होता है ।

जह मज्झ तमहि काले विमला अणुपेहणा भवेजण्हु ।

तह सव्वतो गणाहा विमलगदिग्गदा पसीदन्तु ॥ [७५ सू. चा. ६ अ.]

अर्थ :- जिस तरह अन्तकाल में ये निर्मल वारह अनुप्रेक्षा मुझको प्राप्त हो उस तरह गर्वलोके के नाथ - जिन्होंने कर्मनलरहित गति को प्राप्त किया है ऐसे मित्र परमेष्ठी ने मेरी यही प्रार्थना है कि मुझ में (मेरी आत्मा में) आनन्दानुप्रेक्षा भावना भावने के शुभ भाव पैदा होकर कर्ममल विमुक्तावस्था (मोक्ष) को प्राप्त होऊँ ।

नयविशेषगुणप्रधानभावोपनयदुर्धर्षस्याद्वाइप्रतिश्रियाऽवलबिनस्तः
 नुसारिरूचः पुरयस्य स्वसमयगुणपरसमयदोषविशेषपरिच्छेदेन
 गुणप्रकर्षंस्तत्राऽभिनिवेशः श्रेयानिति स्याद्वादतीर्थकरप्रवचने प
 पराधिराधहेतुपरिग्रहणसामर्थ्येन समवस्थानगुणानुचितनं हेतुवि
 दनामं धर्म्य ।

अर्थ -- धामं हेतु विनय धर्मध्यान का स्वरूप कहते हैं । प्रागम में वि
 गच्छ का विरोध धामे पर जो पुरुष विशेष, विशेषणयो की मुख्यता और मो
 में प्रागम रूप धर्मध्यान कठिन स्याद्वाद के द्वारा उस विरोध का प्रतीकार क
 है तथा स्यादानुसार ही जिनकी कृति है ऐसा पुरुष अपने मत के विशेष
 और परमत् के विशेष शेषा को अच्छी तरह समझकर जहाँ गुणों की प्रथि
 ही रही प्रधान करना उसी को मानना कल्याणकारी है इस प्रकार तीर्थ
 के वह रूप स्याद्वाद स्वल्प प्रागम में पूर्णपर अविरोधरूप हेतुओं के प्र
 धामे की सामर्थ्य में उनमें रहने वाले गुणों का बार-बार चिन्तन कर
 हेतुविधयनामका दशावा धर्मध्यान है ।

सर्वमेतद् धर्मध्यान पीतपद्मशुभ्रान्नेदयावताधान नविरता
 सरागगुणस्थानभमिकं द्रव्य भावात्मकसप्तप्रकृतिभय कारणं । इ
 पप्रनत्तादन्तमूत्रं कालपरिवर्तनं परोक्षज्ञानत्वात् क्षायोपशमिरुभा
 स्वर्गापमर्गति क्लृप्तसंघर्तनीयं । शेषं कविशनिद्रव्यभावलक्षण मोहनी
 योपशम क्षयनिमित्तमिति ।

अर्थ -- इस सब तरह के धर्मध्यान पीत, पद्म और शुभ्रान्नेदया के धर्म
 धामे के धर्म धर्मध्यान में चित्त सराग गुणस्थान तक गीत है । द्रव्य भाव का
 कारण प्रकृतियों के (निष्कारण, सत्त्व, निष्कारण, सत्त्व, प्रकृति निष्कारण धर्म
 का धर्म की ओर मान जगता मोह) धर्म होने के कारण है । नाशक धर्मध
 धर्मध्यान तक धामे के धर्म धर्मध्यान तक ही होने के कारण है । धर्म धर्म
 धर्मध्यान के धर्मध्यान में धर्मध्यानमिक भी है । धर्म धर्मध्यान धर्म धर्म
 धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान
 धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान

धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान
 धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान धर्मध्यान

प्रथम शुक्लध्यान :-

शुक्लध्यानं द्विविधं, शुक्लं, परमशुक्लमिति । शुक्लं द्विविधं पृ-
 व्वतर्कवीचारमेकत्ववितर्कावीचारमिति । परम शुक्लं द्विविधं,
 व्याप्रतिपाति समुच्चिन्नक्रियानिवृत्तिभेदात् । तत्त्वक्षणं
 बाह्यमाध्यात्मिकमिति । गात्रनेत्रपरिस्पन्दविरहितजुंभजु-
 रादिवर्जितमनभिव्यक्तप्राणापानप्रचारत्वमुच्छिन्नप्राणापानप्र-
 षण्णपराजितत्वं बाह्यं, तदनुमेयं परेषामात्मनः स्वसंवेद्य मा-
 र्कं तदुच्यते । पृथक्त्वं नानात्वं, वितर्को द्वादशाङ्गश्रुतज्ञानं,
 र्ज्यं व्यंजनयोगसंक्रान्तिः, व्यंजनमभिधानं, तद्विषयोऽर्थः,
 कायलक्षणो योगः, अन्येऽन्यतः परिवर्तनं संक्रान्तिः । पृथक्त्वे-
 र्स्थाथं व्यंजनयोगेषु संक्रान्तिवीचारो यस्मिन्नस्ति तत्पृथ-
 र्कवीचारं प्रथमं शुक्लं । तद्यथा अनादिसंभूतदीर्घसंसारस्थि-
 त्वापरं जिगमिषुर्मुमुक्षुः स्वभावविजृम्भितपुरुषाकारसामर्थ्याद्
 भाणुं भावपरमाणुं वैकमवलम्ब्य संहृताऽशेषचिन्ताविक्षेपो
 रसंयुतः कर्मप्रकृतीनां स्थित्यनुभागो हासयन्नुपसामयन् क्षय-
 रमवहुकर्मनिर्जरास्त्रिषु योगेऽन्यतमस्मिन्वर्तमान एकस्य
 गुणं वा पर्यायं वा बहुनयनहननिलीनं श्रुतरविकिरणोद्योत-
 तमुहूर्तकालं ध्यायति, ततः परमार्थान्तरं संक्रामत्यय यास्यं-
 गुणं वा पर्यायं वा संक्रामति पूर्वयोगाद्योगान्तरं व्यंजनाद्-
 न्तरं संक्रामति इति । अर्थाधीनरगुणगुणान्तरपर्यायपर्यायान्तर-
 गत्यं संक्रमणेन तस्यैव ध्यानस्य द्विधत्वारिणः भंगा भव-
 तद्यथा-वर्णाणां जीवादिपर्यायानां क्रमेण ज्ञानवर्णगतिस्थितिः
 गाहनादयो गुणास्तेषां विकल्पाः पर्यायाः । अर्थाद्योगुणा-
 रं पर्यायादयः पर्यायः पर्यायान्तरं । एवमर्थाद्योगुणगुणा-
 र्थायपर्यायान्तरैस्तु यन्मु योगव्यसक्तप्रमादष्टारग भङ्गाः । अर्थाद्
 गान्तरपर्यायपर्यायान्तरैषु चतसृं योगव्यसक्तक्रमेण द्वाग भङ्गा
 त । एवमर्थाद्योगुणगुणा-
 र्थायपर्यायान्तरैषु द्वादशभङ्गा भवन्ति । सर्वे सर्वादि-

द्विचत्वारिंशद्भागं भवति । एवं विधं प्रथमं शुक्लध्यानमुपश-
कपायेऽस्ति, क्षीणकपायस्यादावस्ति । तत्र शुक्लतरलेख्यावला-
मतमुहूर्तकालपरिवर्तनं । क्षायोपशमिकभावमुपातार्यध्यजनयो-
क्रमणं चतुर्दशदशनद्यपूर्वधरयतिवृषमनिषेव्यमुपशान्तक्षीणकपायं
स्वर्गापवर्गगतिफलसंबन्धीयमिति ।

अर्थ :- शुक्लध्यान के दो भेद हैं । एक शुक्लध्यान और दूसरा परम
ध्यान । उसमें भी शुक्ल ध्यान दो प्रकार का है ! एक पृथक्त्वचितकं
और दूसरा एकत्वचितकं विचार ! परमशुक्ल भी दो प्रकार का है ।
सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती और समुच्छिन्नाश्रिधा निवृत्ति । उम समस्त शुक्ल
का लक्षण भी दो प्रकार का है । एक बाह्य और दूसरा आध्यात्मिक ।

बाह्यशुक्लध्यान - शरीर और नेत्रों को परिस्पंद रहित रखना, जंभाई
उद्गार आदि नहीं होना, प्राणापान का प्रचार नष्ट हो जाना और कि
भी द्वारा जीता न जाना बाह्य शुक्लध्यान है । यह बाह्य शुक्लध्यान अन्म
को अनुमान से जाना जा सकता है ।

आध्यात्मिक शुक्लध्यान :- जो केवल आत्मा को स्वसंवेद्य हों वह अ-
त्मिक शुक्लध्यान कहा जाता है ।

(१) पृथक्त्वचितकंवीचर - नानात्व अथवा अनेकपने को पृथक्त्व कह
दादशाङ्ग श्रुतज्ञान को चितकं कहते हैं । अर्थ, व्यजन और योगों की सं-
को वीचार कहते हैं । किसी पदार्थ के नाम को व्यंजन कहते हैं और उस
व्यजन के विषय भूत पदार्थ को अर्थ कहते हैं । मन वचन काय के द्वारा
के प्रदेशों के परिस्पंद को योग कहते हैं । एक दूसरे में बदल जाना संक्रान्ति
जिस ध्यान में द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान अर्थ व्यञ्जन योगों में अनेक तरह से
मण करता है उसको पृथक्त्वचितकंवीचर नामका प्रथम शुक्लध्यान कहें
प्रागे इसही का खुलासा लिखते हैं ।

जब यह अनादिकाल से चले आये दीर्घ समार की स्थितिरूप मा
गर के पार जाने की इच्छा करनेवाला भाँझार्थी जीव स्वभाव से प्राप्
पुरुपाकार की सामर्थ्य से द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणु में से किसी
का प्रवलंबन कर (उसका चिन्तनकर) वाकी के समस्त चिन्तवनों को
लेता है तथा उसी समय महासंवर करता है । कर्मों की प्रकृतियों को नि

अनुभाव को घटाता है अथवा उन कर्म प्रकृतियों का उपशम और क्षय
 है बहुत से कर्मों की परम निर्जरा करता है। मन, वचन, काय तीनों में
 जो एक योग में स्थित रहता है और श्रुतज्ञान रूपी सूर्य की किरणों के
 यो को सामर्थ्य से अन्तर्मूर्त तक अनेक नयों की गहनता में डूबे हुए किसी
 द्रव्य के गुण व उसके पर्याय का ध्यान करता है। उसके बाद उस पदार्थ
 दल कर किसी दूसरे पदार्थ का चिन्तन करता है अथवा उसी पदार्थ के
 व पर्याय का संक्रमण करता है। पहिले योग से किसी दूसरे योग पर संक्र-
 मण करता है और एक व्यञ्जन से दूसरे व्यञ्जन पर संक्रमण करता है। एक
 से दूसरे पदार्थ पर एक गुण से दूसरे गुण पर और एक पर्याय से दूसरे
 पर तीनों योगों के द्वारा संक्रमण करने से इस प्रथम ध्यान के विद्यालीस
 हो जाते हैं। वे विद्यालीस भेद निम्नांकित है:- संसार में जीवादिक (जीव,
 अक्षर, अक्षर, अक्षर, अकाश और काल) छह द्रव्य हैं। ज्ञान, वर्ण, गतिसह-
 स्थितिसहकार, वर्तना और अवगाहन ये अनुक्रम से उन द्रव्यों के गुण
 उनके भेदों को पर्याय कहते हैं। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर संक्रमण
 को अर्थान्तर कहते हैं एक गुण से दूसरे गुणपर संक्रमण करने को गुणा-
 न्तर कहते हैं और एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर संक्रमण करने को पर्याया-
 न्तर कहते हैं इस प्रकार अर्थ, अर्थान्तर गुण, गुणान्तर और पर्याय, पर्यान्तर
 छहों में तीनों योगों के संक्रमण के द्वारा अठारह भेद होते हैं। इसी
 अर्थ में गुण, गुणान्तर, पर्याय, पर्यायान्तर इन चारों में तीन
 योगों के संक्रमण के द्वारा बारह भेद होते हैं तथा अर्थान्तर से गुण,
 गुणान्तर, पर्याय, पर्यायान्तर इन चारों में तीन योगों के संक्रमण के द्वारा बारह
 भेद होते हैं। इस प्रकार सब मिलकर विद्यालीस भेद होते हैं। इस प्रकार
 प्रथम शुक्लध्यान उपशान्त कपाय में रहता है और क्षीण कपाय के प्रारम्भ
 होता है। यह ध्यान शुक्लतर लेश्या के बल से होता है और अन्तर्मूर्तकाल
 बाद बदल जाता है। यह श्वायोपशमिक भाव है। प्राप्त हुए अर्थव्यञ्जन
 योगों के संक्रमण पूर्वक होता है। चौदह पूर्व व नौ पूर्व धारण करने वाले उत्तम
 योगों के द्वारा मेवत (धारण) करने योग्य है और उपशान्त कपाय तथा
 कपाय के भेद से स्वर्ग और मोक्ष फल को देनेवाला है।

द्वितीय एकत्ववितर्क विचार शुक्लध्यान -

द्वितीयशुक्लध्यानमुच्यते । वितर्को द्वादशांगं, अवीचारोऽसंक्रा-

द्विचत्वारिंशद्भंगा भवन्ति । एवं विधं प्रथमं शुक्लध्यानमुपशा-
कपायेऽस्ति, क्षीणकपायस्यादावस्ति । तत्र शुक्लतरलेश्याबलाध-
मतमुहूर्तकालपरिवर्तनं । क्षायोपशमिकभावमुपातार्यध्यजनयोग-
क्रमणं चतुर्दशदशानवपूर्वधरयतिवृषभनिषेव्यमुपशान्तक्षीणकपायमे-
स्वर्गापवर्गगतिफलसंवर्त्तनीयमिति ।

अर्थ :- शुक्लध्यान के दो भेद हैं । एक शुक्लध्यान और दूसरा परम
ध्यान । उसमें भी शुक्ल ध्यान दो प्रकार का है ! एक पृथक्त्ववितर्क
और दूसरा एकत्ववितर्क विचार ! परमशुक्ल भी दो प्रकार का है ।
सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती और समुच्छिन्नाक्रिया निवृत्ति । इस समस्त शुक्ल
का लक्षण भी दो प्रकार का है । एक बाह्य और दूसरा आध्यात्मिक ।

बाह्यशुक्लध्यान - शरीर और नेत्रों को परिस्पद रहित रखना, जंभाई
उद्गार आदि नहीं होना, प्राणापान का प्रचार नष्ट हो जाना और किस
भी द्वारा जीता न जाना बाह्य शुक्लध्यान है । यह बाह्य शुक्लध्यान अन्य
को अनुमान से जाना जा सकता है ।

आध्यात्मिक शुक्लध्यान - जो केवल आत्मा को स्वसंवेद्य हो वह आ-
त्मिक शुक्लध्यान कहा जाता है ।

(१) पृथक्त्ववितर्कवीचर - नानात्व अथवा अनेकपने को पृथक्त्व कहते-
द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं । अर्थ, व्यजन और मोगों की संक्रा-
को वीचर कहते हैं । किसी पदार्थ के नाम को व्यंजन कहते हैं और उस
व्यजन के विषय भूत पदार्थ को अर्थ कहते हैं । मन वचन काय के द्वारा अर्थ
के प्रदेशों के परिस्पद को योग कहते हैं । एक दूसरे में बदल जाना संक्रान्ति
द्विष्य ध्यान में द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान अर्थ व्यञ्जन योगों में अनेक तरह में
मग करता है उसको पृथक्त्ववितर्कवीचर नामका प्रथम शुक्लध्यान कहते
प्राये इगही का मुलामा लिखने हैं ।

अब यह अनादिकाल में चने प्राये दीर्घ संसार की स्थितिभ्य महां
गर के पार जाने की इच्छा करनेवाला मोक्षार्थी जीव स्वभाव में प्राण
पुरुषाकार की सामर्थ्य में द्रव्य परमाणु अथवा नाव परमाणु में ते क्रिगो
का अवलंबन कर (उमका चिन्तवनकर) बाकी के समस्त चिन्तवनों को र-
मना है तथा उसी समय महामंवर करता है । कर्मों की प्रकृतियों की स्थि

। आराधन करना कठिन ही भी है

तथा हि कुर तिक्रमम् ॥

“पदपूर्व पदपूर्वराश्यां पदव वरे उपवस्थितम् ।

ही जाती है यही वान मन्म गात्रों में भी मिलते हैं-

करने से क्या ? मधुकरण से क्या मिले मही ? किन्तु सब कुछ मिल

कारण से उत्पन्न हुआ वर पीडकर धरने हस्त की गान्त बना लेते है । यही

परस्पर विरोध रखनेवाले जीव भी अपनी जन्म में उत्पन्न वर मधुवा किरी

जिस स्थान में निवास करते है व तीर्थ कहलाते है । मधुकरण के प्रभाव से

अर्थ :- इस प्रकार मधुकरण की सामर्थ्य निरूपण की । परस्पर लोग जिस

पन्ती । अतिरिक्तपन्ती हि लोके प्राणिनामपमानविधावती ।

गुणसंपदः । वरानामविनासविशयवर्कतः पापराशि विधायिका

दया दया न संशयानि । निर्याद्विभक्तगुणकूलवासमविषयनि

नं परित्यज्यादेमवधुमिन्मयाख्यातवती । अहमवधुमनपणलपती हि सा-

नाधिवासितस्त्रीसंभारशयनाऽऽसन्नमिन्मयाहि पूर्वतरानिर्वचनवज-

सजलसंति कलागुणविशारदति स्मत्वा, तन्कायाधवणं रतिपत्तिम-

ध्यात्य संभार सर्वकालमिषब्दा एव । मयाऽनुभवानामा सुखेति

वापद्य नजनयति, तस्यप्यनदरी भवति शरीरादियु कंठोऽभि-

मन्मवात्परमनिर्व निभवातीति । यथा यथा पौषति तथा तथा

पुं संस्काराणीदृश्या, मन्दे' मयाऽमात्र आकचन् । शरीरादपि नि-

परित्यज्येण एव दुःखमयादिकजनयतीति उपालब्धपि शरीरादि-

यदास्ते प्रत्नमाधुमयाधरन्ता कल्पते ॥

कः पूर्यति दूरपूरमाशागतं दिने दिने ।

श्रीप च-

खिलं यत्क्षणमात्रेण त्यागनेकेन पूर्यते ॥

अनकाऽऽद्यपदपूर्व आशागतं विवरदाहो ।

उपनिमित्तं विरति संनिर्लेख संनिर्लेखवद्वेषाः । उक्तं हि-

एतं पूर्यतिगतं । परित्यज्यो बलवती सर्वदोषप्रसवयानि । नन्वस्या

परित्यज्येणपुर्वद्विक्रमसंज्ञिकपरमसुखकारणं निरवद्यमनः प्रणि-

हेतुतत्त्वतः संपन्नो भवति । ततोऽपि खेती स्वधर्मो भवति ।
 नाशो भूज्वलितं संसारं । उपविशन्तः पुरुषहितं यतो यतो पश्यन्-
 त्पुं पश्यन् न विद्यते स चाप्युदयो यथा, भूज्वलितं स चर्षणीः

तत्सर्वं तपसा साध्यन्तं नृणां हि वैदिककर्मणः ॥

पदार्थः पदार्थोपदेशः पदार्थः स्वधर्मः ।

तपः किं साध्यन्तं संपन्नं । तद्वैश्वानर-
 विरोधं विमुक्त्यं शांतिं तपसाः साध्यते । किं वैश्वान-
 रसम्पन्नता । पदार्थविरोधिनोऽपि प्राणिनो जगति विरोधं कारण-
 पदार्थतपः साध्यन्तं, तपस्विपदार्थविरोधिनो वैश्वान-
 रसम्पन्नता ।

तपस्यस्य की महेता -

(१) श्रेयसां हेतुः ।

(२) क्षेमः श्रेयसां हेतुः प्रकाशः, हेतुः प्रकाशः स च सर्वं प्रकाशं चो-
 प्रकाशः, (५) वलः श्रेयसां हेतुः प्रकाशः, (६) श्रेयसां श्रेयसां प्रका-
 प्रकाशः, (३) श्रेयसां श्रेयसां प्रकाशः, (४) श्रेयसां श्रेयसां प्रका-
 श्रेयसां - (१) श्रेयसां श्रेयसां प्रकाशः, (२) श्रेयसां श्रेयसां प्रका-
 श्रेयसां श्रेयसां प्रकाशः ।

हेतुः प्रकाशः श्रेयसां श्रेयसां प्रकाशः ।

श्रेयसां हेतुः ।

श्रेयसां हेतुः, सर्वं श्रेयसां प्रकाशः, सर्वं श्रेयसां प्रकाशः श्रेयसां प्रकाशः ।
 श्रेयसां हेतुः श्रेयसां प्रकाशः, श्रेयसां प्रकाशः, श्रेयसां प्रकाशः ।
 श्रेयसां हेतुः श्रेयसां प्रकाशः, श्रेयसां प्रकाशः, श्रेयसां प्रकाशः ।

श्रेयसां हेतुः ।

श्रेयसां हेतुः श्रेयसां प्रकाशः श्रेयसां प्रकाशः श्रेयसां प्रकाशः ।
 श्रेयसां हेतुः श्रेयसां प्रकाशः श्रेयसां प्रकाशः श्रेयसां प्रकाशः ।
 श्रेयसां हेतुः श्रेयसां प्रकाशः श्रेयसां प्रकाशः श्रेयसां प्रकाशः ।
 श्रेयसां हेतुः श्रेयसां प्रकाशः श्रेयसां प्रकाशः श्रेयसां प्रकाशः ।
 श्रेयसां हेतुः श्रेयसां प्रकाशः श्रेयसां प्रकाशः श्रेयसां प्रकाशः ।



卐 श्रीमहावीरायनमः 卐

❀ पट्टावली ❀

श्री त्रैलोक्याधिपतिं नत्वा स्मृत्वासद्गुरु भारतीम् ।
 वक्ष्ये पट्टावलीरम्यां, मूल-संघ गणाधिपम् ॥
 श्री मूल-संघे प्रवरे, नंद्यान्माये मनोहरे ।
 बलात्कार गणोत्तसे, गच्छे सारस्वतीयके ॥
 कुन्द-कुन्दान्वयेश्रेष्ठे, उत्पत्ति श्री गणाधिपः ।
 स एवोत्र प्रवक्ष्यंते, श्रूयतां सज्जनाः जनाः ॥

सर्वं प्रथम युगादि चौदह कुलकर हुए ।

(१) प्रतिश्रुत, (२) सन्मति, (३) क्षेमंकर, (४) क्षेमंधर, (५) सीमंकर (६) सीमंधर, (७) विपुल वाहन, (८) चक्षुष्मान्, (९) यशस्वो (१०) अभिचन्द्र, (११) चन्द्रान, (१२) महदेव, (१३) प्रसेनजित्, घोर (१४) नाभिराजा ।

उपरोक्त चौदह कुलकरो मे से अन्तिम कुलकर नाभिराजा के युगधर्म निवारक, युगादिधर्मधारक, सत्सरतारक, द्विविधधर्ममार्गोपदेयक, घादि राजा वर्तमान चौबीसी के घादि तीर्थंकर, पुत्र घादिनाथ हुए । श्री आदिनाथ स्वामी से लेकर महावीर स्वामी तक जंनियों के वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकर हुए । अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के पदचान् ६२ हुए । अन्तिम तीर्थंकर केवलजानी होते रहे ।

(यासठ) वर्ष तक केवलजानी होते रहे ।

अन्तिम जिणगिन्वाणे, देवलपाणीय गोयम मुणीन्दो ।

बारह वासेयगए, सुधम्मसांभीय संजादो ॥

तह बारह वासेयण, संजादो जंयसांमि मुणिरायो ।

के उक्किदुो ॥

स्वामी को छँ, कोस दो (२) विस्तार छँ, तिसदेहरा के सोना की पीठिका छँ, प्रतिमाजी सोना की छँ, प्रतिमा कायोत्सर्ग छँ, प्रतिमा एक सौ आठ धनुष की ऊँची छँ, वेदो सोना की छँ, सिंहासन जड़ाव की छँ, देहरा के ऊपर कलस सोना का सातसौ मण (७०० मण) की छँ, देहरा के आस पास ७२ (बहत्तर) चैत्यालय छँ, तिण में प्रतिमा तीन चौबोसी की छँ, तिहा त्रिकाल पूजा होय छँ। इस तरह जिनधर्म जैन का विद्यमान छँ, चल रह्यो छँ। तारा तम्बोल के आम पाम इसी बड़ी सिन्धु नदी बहे छँ, उस आगे शहर एक ऐसी बताये छँ, उन बीच रस्तो मास दोंय को बतावे छँ, आगली खबर केवती ने छँ, या वार्ता मुलतान रो बासी जात छवो नाम ठाकुर बुलासी ने बात कही ते लिखी छै। अहमदाबाद नगर थी तारातम्बोल नगर सर्व कोस पाँच हजार छँ सो पचास छँ। इति।

नोट,— इस प्राचीन नागौर के हस्तलिखित शास्त्र भण्डार में अनेक अप्राप्य, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सवही विषयो के ग्रन्थ मौजूद है। वहाँ करीब बीस वर्ष पूर्व मे भण्डार के अनुसन्धान काल में मुझे बहुत से प्राचीन इतिहास को भी अबलोकन करने का सोभाग्य प्राप्त हुवा है, उसका प्रकाशित होना अत्यावश्यकोय है। राजस्थान में यह करीब दस चारह हजार हस्तलिखित ग्रन्थों का अनुपम और अपूर्व भण्डार है। उसमे से ही प्राप्त श्री भगवान महावीर स्वामी को मोक्ष जाने के बाद में पट्टधारी आचार्य मुनिराज व भट्टारक हुए उनका विवरण निम्नाङ्कित रूप से अक्षरशः पट्टावली वर्णित की जा रही है।



श्री तेजीनाथ की बारात



॥ कर्मयोगो विदुः ॥
 ॥ कर्मयोगो विदुः ॥
 ॥ कर्मयोगो विदुः ॥

(१) कर्मयोगो विदुः ॥
 (२) कर्मयोगो विदुः ॥
 (३) कर्मयोगो विदुः ॥
 (४) कर्मयोगो विदुः ॥
 (५) कर्मयोगो विदुः ॥

(६) कर्मयोगो विदुः ॥
 (७) कर्मयोगो विदुः ॥
 (८) कर्मयोगो विदुः ॥
 (९) कर्मयोगो विदुः ॥
 (१०) कर्मयोगो विदुः ॥

॥ कर्मयोगो विदुः ॥
 ॥ कर्मयोगो विदुः ॥
 ॥ कर्मयोगो विदुः ॥
 ॥ कर्मयोगो विदुः ॥
 ॥ कर्मयोगो विदुः ॥

* पदावली *

श्रीमहावीराय नमः ॥





आयरियविशाखपोट्टिल, खत्तिय जयसेण नागसेणमुणी ।
सिद्धदुधित्ति विजयं, वुहिलिङ्गदेवधम्मसेणम् ॥
दह उगणीसह सत्तर, इगवीस अट्टार सत्तर अट्टारेहिम् ।
तेरह वीसह चउदह, सोलह वासं कम्मणेयम् ॥

१. श्री वीर निर्वाण सवत् १६२ मे श्री मुनिराज विशारवाचार्यं सर्वं प्रथम दसपूर्व के धारक हुए, इनका दीक्षा काल १० (दस) वर्ष रहा ।
 २. श्री वीर नि. म. १७२ में श्री मुनिराज प्रोण्टिलाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १६ वर्ष रहा ।
 ३. श्री वीर नि. म. १६१ मे श्री मुनिराज क्षत्रियाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १७ वर्ष रहा ।
 ४. श्री वीर नि. स. २०८ मे श्री मुनिराज जयसेनाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल २१ वर्ष रहा ।
 ५. श्री वीर नि. स. २२६ मे श्री मुनिराज नागसेनाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १८ वर्ष रहा ।
 ६. श्री वीर नि. म. २४७ मे श्री मुनिराज सिद्धार्थाचार्य हुए इनका दीक्षा काल १७ वर्ष रहा ।
 ७. श्री वीर नि. स. २६४ में श्री मुनिराज दूतसेनाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १८ वर्ष रहा ।
 ८. श्री वीर नि. म. २८२ मे श्री मुनिराज विजयाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १३ वर्ष रहा ।
 ९. श्री वीर नि. स. २६५ मे श्री मुनिराज वुडिलिङ्गाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल बीस (२०) वर्ष रहा ।
 १०. श्री वीर नि. स. ३१५ मे श्री मुनिराज देवाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १४ वर्ष रहा ।
 ११. श्री वीर नि. स. ३२६ मे श्री मुनिराज धर्मसेनाचार्य हुए, इनका दीक्षा काल १६ वर्ष रहा ।
- श्री वीर निर्वाण सवत् ३४५ के पीछे १२३ वर्ष मे निम्नादिकृत एका-दशाङ्गधारी ५ आचार्य हुए ।

अन्तिम जिणणिग्वाणे, तियसयपणचालवात जादेत्तु ।

एगावहाङ्गधारीय, पण जण मुणिवरा जादा ॥

आयरियविशाखपोट्टिल, उत्तिय जयसेण नागसेणमुणी ।
 सिद्धदुधित्ति विजयं, बृहिलिङ्गदेवधम्मसेणम् ॥
 दह उगणीसह सत्तर, इगवीस श्रट्टार सत्तर अट्टारेहिम् ।
 तेरह वीसह चउदह, सोलह वासं फम्मणेयम् ॥

१. श्री वीर निर्वाण सबत् १६२ मे श्री मुनिराज विहारवाचार्यं सर्वं प्रथम
 दशपूर्व के धारक हुए, इनका दीक्षा काल १० (दम) वर्ष रहा ।
 २. श्री वीर नि. म. १७२ मे श्री मुनिराज प्रोत्तिलाचार्यं हुए, इनका दीक्षा
 काल १६ वर्ष रहा ।
 ३. श्री वीर नि. मं. १६१ मे श्री मुनिराज क्षत्रियाचार्यं हुए, इनका दीक्षा
 काल १७ वर्ष रहा ।
 ४. श्री वीर नि. मं. २०८ मे श्री मुनिराज जयसेनाचार्यं हुए, इनका दीक्षा
 काल २१ वर्ष रहा ।
 ५. श्री वीर नि. म. २२६ मे श्री मुनिराज नागसेनाचार्यं हुए, इनका दीक्षा
 काल १८ वर्ष रहा ।
 ६. श्री वीर नि. म. २४७ मे श्री मुनिराज सिद्धार्थाचार्यं हुए इनका दीक्षा
 काल १७ वर्ष रहा ।
 ७. श्री वीर नि. मं. २६४ मे श्री मुनिराज दृत्तित्तेनाचार्यं हुए, इनका दीक्षा
 काल १८ वर्ष रहा ।
 ८. श्री वीर नि. म. २८२ मे श्री मुनिराज विजयाचार्यं हुए, इनका दीक्षा
 काल १३ वर्ष रहा ।
 ९. श्री वीर नि. म. २९५ मे श्री मुनिराज बृहिलिङ्गाचार्यं हुए, इनका दीक्षा
 काल बीस (२०) वर्ष रहा ।
 १०. श्री वीर नि. म. ३१५ मे श्री मुनिराज वेदाचार्यं हुए, इनका दीक्षा
 काल १४ वर्ष रहा ।
 ११. श्री वीर नि. म. ३२६ मे श्री मुनिराज धर्मसेनाचार्यं हुए, इनका दीक्षा
 काल १६ वर्ष रहा ।
- श्री वीर निर्वाण सबत् ३४५ के पीछे १२३ वर्ष मे निम्नाङ्कित एक-
 दशाङ्गधारी ५. भाचार्यं हुए ।
 अन्तिम जिनणिव्वाने, तियसयपणचालवास जादेसु ।
 एगावहाङ्गधारीय, पण जण मुणिवरा जादा ॥

- १. $\frac{1}{x} = x^{-1}$ । $\frac{d}{dx} x^{-1} = -1 x^{-2} = -\frac{1}{x^2}$ । $\frac{d}{dx} \frac{1}{x} = -\frac{1}{x^2}$ ।
 $\frac{d}{dx} x^2 = 2x$ । $\frac{d}{dx} x^3 = 3x^2$ । $\frac{d}{dx} x^4 = 4x^3$ । $\frac{d}{dx} x^5 = 5x^4$ ।
 $\frac{d}{dx} x^n = nx^{n-1}$ । $\frac{d}{dx} x^{-2} = -2x^{-3} = -\frac{2}{x^3}$ ।
 $\frac{d}{dx} x^{-3} = -3x^{-4} = -\frac{3}{x^4}$ । $\frac{d}{dx} x^{-4} = -4x^{-5} = -\frac{4}{x^5}$ ।
 $\frac{d}{dx} x^{-5} = -5x^{-6} = -\frac{5}{x^6}$ ।

१. $\frac{d}{dx} x^2 = 2x$ । $\frac{d}{dx} x^3 = 3x^2$ । $\frac{d}{dx} x^4 = 4x^3$ ।
 $\frac{d}{dx} x^5 = 5x^4$ । $\frac{d}{dx} x^6 = 6x^5$ । $\frac{d}{dx} x^7 = 7x^6$ ।
 $\frac{d}{dx} x^8 = 8x^7$ । $\frac{d}{dx} x^9 = 9x^8$ । $\frac{d}{dx} x^{10} = 10x^9$ ।
 $\frac{d}{dx} x^{11} = 11x^{10}$ । $\frac{d}{dx} x^{12} = 12x^{11}$ ।
 $\frac{d}{dx} x^{13} = 13x^{12}$ । $\frac{d}{dx} x^{14} = 14x^{13}$ ।
 $\frac{d}{dx} x^{15} = 15x^{14}$ ।

२. $\frac{d}{dx} x^{-1} = -x^{-2} = -\frac{1}{x^2}$ । $\frac{d}{dx} x^{-2} = -2x^{-3} = -\frac{2}{x^3}$ ।
 $\frac{d}{dx} x^{-3} = -3x^{-4} = -\frac{3}{x^4}$ । $\frac{d}{dx} x^{-4} = -4x^{-5} = -\frac{4}{x^5}$ ।
 $\frac{d}{dx} x^{-5} = -5x^{-6} = -\frac{5}{x^6}$ । $\frac{d}{dx} x^{-6} = -6x^{-7} = -\frac{6}{x^7}$ ।
 $\frac{d}{dx} x^{-7} = -7x^{-8} = -\frac{7}{x^8}$ । $\frac{d}{dx} x^{-8} = -8x^{-9} = -\frac{8}{x^9}$ ।
 $\frac{d}{dx} x^{-9} = -9x^{-10} = -\frac{9}{x^{10}}$ । $\frac{d}{dx} x^{-10} = -10x^{-11} = -\frac{10}{x^{11}}$ ।

३. $\frac{d}{dx} x^2 = 2x$ । $\frac{d}{dx} x^3 = 3x^2$ । $\frac{d}{dx} x^4 = 4x^3$ ।
 ४. $\frac{d}{dx} x^{-1} = -x^{-2} = -\frac{1}{x^2}$ । $\frac{d}{dx} x^{-2} = -2x^{-3} = -\frac{2}{x^3}$ ।
 ५. $\frac{d}{dx} x^2 = 2x$ । $\frac{d}{dx} x^3 = 3x^2$ । $\frac{d}{dx} x^4 = 4x^3$ ।
 ६. $\frac{d}{dx} x^{-1} = -x^{-2} = -\frac{1}{x^2}$ । $\frac{d}{dx} x^{-2} = -2x^{-3} = -\frac{2}{x^3}$ ।

पुत्रार्थं के ही निम्नादिभ्यः ४ (चार) नाम ये । १. धी परमनाथि २. धी
 भावे, ३. धी मुदिनिष्ठ (मुदिनिष्ठ) धीर ४. धी इलाचार्य (एलाचार्य) ।
 १. धी निती काठिक दुस्सा = विक्रम सं. १०१ में प्रयोग्यायुषी धारक धी
 भावं वनात्बानो हृत्, इनका मृहस्वावस्था का काल १२ वर्ष, शीघ्र का
 १२ वर्ष, पटस्पकाल ८० वर्ष = माह १ दिन धीर विरह काय ३ दिन १२
 तिो मन्मूपांतु = ८ वर्ष = माह धीर ६ दिन की थी ।

३ धी निती ध्याद दुस्सा १८ विक्रम सं. १६२ में मनेषु सायुष्य ३
 कनकाचार्य (मोहाचार्य) हृत्, इनका मृहस्वावस्था का काल २१ वर्ष
 रंका काल ३० वर्ष धीर पटस्पकाल १० वर्ष १० माह २० दिन धीर विरह
 काय दिन ६ रहा, इनकी मन्मूपांतु ६२ वर्ष १० माह धीर २१ दिन की थी ।

८. धी निती वेष्ट दुस्सा १० विक्रम सं. १५३ में जायतनाथ
 धी मुनिराज ध्याःकोति हृत्, इनका मृहस्वावस्था का काल १० वर्ष,
 काल २१ वर्ष, पटस्पकाल २० वर्ष = माह १० दिन धीर विरह
 इनकी मन्मूपांतु ६१ वर्ष = माह धीर १५ दिन की थी ।

९. धी निती फाल्गुन दुस्सा १० विक्रम सं. २११ में रंका
 धी मुनिराज ध्याःनन्दि हृत्, इनका मृहस्वावस्था का काल ११ वर्ष
 काल १३ वर्ष पटस्पकाल ४६ वर्ष ६ माह ६ दिन धीर विरह
 का रहा, इनकी मन्मूपांतु ३६ वर्ष ४ माह १३ दिन की थी ।

१०. धी निती ध्यापद दुस्सा = विक्रम सं. २५० में देवनाथ
 मुनिराज देवनन्दि हृत्, इनका मृहस्वावस्था का काल ११ वर्ष
 काल १५ वर्ष ३ माह धीर पटस्पकाल वर्ष ४६ माह १० दिन
 काल दिन ४ का रहा, इनकी मन्मूपांतु ३५ वर्ष ११ माह १३ दिन की थी ।

११. धी निती वेष्ट दुस्सा १० विक्रम सं. ३०० में देवनाथ
 सुव्रत धी मुनि, प्रथमपाथ श्यामी हृत्, इनका मृहस्वावस्था का काल ११ वर्ष
 शीघ्र काल ११ वर्ष ३ माह, पटस्पकाल ४५ वर्ष १० माह
 विरहकाल ३ दिन रहा, इनकी मन्मूपांतु ३५ वर्ष ११ माह १३ दिन की थी ।

१२. धी निती वेष्ट दुस्सा १० विक्रम सं. ३०० में देवनाथ
 गुणनन्दि मुनिराज हृत्, इनका मृहस्वावस्था का काल ११ वर्ष
 वर्ष ५ माह, पटस्पकाल ४५ वर्ष १० माह १३ दिन
 रहा, इनकी मन्मूपांतु ३५ वर्ष ११ माह १३ दिन की थी ।

16 वर्ष 2 माह 22 दिन, विरहकाल 6 दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु
वर्ष 3 माह 1 दिन की थी।

1 श्री मित्ती पोष गुक्ला 11 विक्रम स. 531 मे लवेचु जात्युत्पन्न श्री
रुद्र मूनि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल 6 वर्ष, दीक्षा काल 13 वर्ष,
उत्थकाल 30 वर्ष 0 माह 14 दिन और, अन्तरालकाल दिन 10 रहा, इनकी-
सम्पूर्णायु 52 वर्ष 0 माह 14 दिन की थी।

2 श्री मित्ती माघ गुक्ला 5 विक्रम स. 561 मे अग्रवाल जात्युत्पन्न श्री
शक्ति मूनि हुये, इनका गृहस्थावस्था काल 2 वर्ष, दीक्षाकाल 12 वर्ष,
उत्थकाल 23 वर्ष 0 माह 7 दिन और अन्तराल काल 11 दिन रहा,
तो सम्पूर्णायु 43 वर्ष 4 माह 12 दिन की थी।

3 श्री मित्ती आषाढ कृष्णा 2 विक्रम स. 555 मे अग्रवाल जात्युत्पन्न
माणिक्यनन्दि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल 10 वर्ष रहा, दीक्षा काल 15
पटस्थकाल 16 वर्ष 5 माह 10 दिन और अन्तरालकाल 15 दिन रहा,
तो सम्पूर्णायु 45 वर्ष माह 5 25 दिन की थी।

4 श्री मित्ती पोष कृष्णा 3 विक्रम स 601 मे खण्डेलवाल जैन जात्युत्पन्न
मेघचन्द्र मूनि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल 24 वर्ष 3 माह 27 दिन,
पटस्थकाल 24 वर्ष 5 माह 20 दिन
और अन्तरालकाल 12 दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु 56 वर्ष 6 माह 2 दिन
की थी।

5 श्री मित्ती आषाढ कृष्णा 5 विक्रम स 607 मे सहजवाल जात्युत्पन्न
शान्तिकीर्ति मूनि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल 3 वर्ष, दीक्षाकाल 10
वर्ष, पटस्थकाल 15 वर्ष 0 माह 24 दिन और अन्तरालकाल 20 दिन रहा,
तो सम्पूर्णायु 32 वर्ष 1 माह 12 दिन की थी।

6 श्री मित्ती आषाढ शुक्ला 5 विक्रम स 612 मे महजवाल जात्युत्पन्न
श्री मेरुकीर्ति मूनि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल 2 वर्ष, दीक्षाकाल 11 वर्ष,
पटस्थकाल 24 वर्ष 3 माह 16 दिन, और अन्तरालकाल 13 दिन रहा,
इनकी सम्पूर्णायु 42 वर्ष 3 माह 16 दिन की थी।

7 श्री मित्ती माघशुक्ल 4 विक्रम स. 626 मे महजवाल जात्युत्पन्न
श्री महाकीर्ति हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल 6 वर्ष, दीक्षाकाल 12 वर्ष,
पटस्थकाल 20 वर्ष 1 माह 11 दिन और अन्तरालकाल 12 दिन रहा

१० श्री मितो चंद्र कृष्णा ५ विक्रम सं. १०६४ में श्री भावचन्द्रजी मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १२ वर्ष, दीक्षा काल २५ वर्ष, पटस्थकाल २० वर्ष ११ माह २५ दिन और अन्तरालकाल ५ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ५८ वर्ष की थी।

११ श्री मितो चंद्र कृष्णा ५ विक्रम सं. १११५ में श्रीमाली ज्ञानुत्पन्न श्री गंगाचन्द्रजी मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १० वर्ष, दीक्षाकाल २६ वर्ष, पटस्थकाल २५ वर्ष ६ माह १० दिन और अन्तरालकाल ५ दिन का रहा, इनकी सम्पूर्णायु ६१ वर्ष ६ माह १५ दिन की थी।

१२ श्री मितो भाद्रपद शुक्ला १ विक्रम सं. ११४० में पञ्चन धारक ज्ञानुत्पन्न श्री माघचन्द्रजी मुनि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल १४ वर्ष, दीक्षाकाल १३ वर्ष, पटस्थकाल ४ वर्ष ३ माह १७ दिन और अन्तरालकाल ७ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ३१ वर्ष ३ माह २४ दिन की थी।

१३. श्री मितो पौष कृष्णा १४ विक्रम सं. ११४४ में बधनोरा ज्ञानुत्पन्न श्री वृषभनन्दि मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ७ वर्ष, दीक्षाकाल ३७ वर्ष, पटस्थकाल ३ वर्ष ४ माह १ दिन और अन्तरालकाल ४ दिन का रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४७ वर्ष ४ माह ५ दिन की थी।

१४. श्री मितो वंशाक्ष शुक्ला ४ विक्रम सं. ११४८ में सहबरात ज्ञानुत्पन्न श्री शिवनन्दि मुनि. हुए, इनका गृहस्थावस्था काल ६ वर्ष, दीक्षाकाल ३६ वर्ष, पटस्थकाल ७ वर्ष ६ माह १७ दिन और अन्तरालकाल १४ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ५५ वर्ष ७ माह १ दिन की थी।

१५ श्री मितो मार्गशीर्ष शुक्ला ५ विक्रम सं. ११५५ में बधनोरा ज्ञानुत्पन्न श्री मुनिराज श्री वसुचन्द्रजी हुए, इनका गृहस्थावस्था काल ११ वर्ष, दीक्षा काल ४० वर्ष, पटस्थकाल ७ माह २८ दिन और अन्तरालकाल ३ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ५१ वर्ष ७ माह १ दिन की थी।

१६. श्री मितो धारण शुक्ला ६ विक्रम सं. ११५६ में नचापु धारक ज्ञानुत्पन्न श्री मुनिराज विह्वलन्दि हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ७ वर्ष, दीक्षाकाल ३२ वर्ष, पटस्थकाल ४ वर्ष ७ माह २४ दिन और अन्तरालकाल ५ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४३ वर्ष ७ माह २६ दिन की थी।

१७. श्री मितो भाद्रपद शुक्ला ५ विक्रम सं. ११६० में इरक धारक ज्ञानुत्पन्न श्री मुनि. भावचन्द्र हुए, इनका गृहस्थावस्थाकाल ११ वर्ष, दीक्षाकाल ३० वर्ष, पटस्थकाल ४ वर्ष ७ माह २६ दिन और अन्तरालकाल ५ दिन रहा, इनकी सम्पूर्णायु ४३ वर्ष ७ माह २६ दिन की थी।

